

एक नई सुबह की तलाश

हिंदुस्तानी मुसलमान - कल, आज और मुस्तक़बिल

लेखक : डॉ.सैयद नासिर शाह



Published By : Qalamse.com

एक नई सुबह की तलाश: हिंदुस्तानी मुसलमान – कल, आज और मुस्तक़बिल

लेखक : डॉ. सैयद नासिर शाह

© 2026, डॉ. सैयद नासिर शाह

Published By : Qalamse.com (Official Website)

शुक्रिया-नामा

हर अज़ीम ख्वाब को हक़ीक़त में ढलने के लिए किसी ऐसे सहारे की ज़रूरत होती है, जो उस ख्वाब पर यक़ीन कर सके। यह किताब **“एक नई सुबह की तलाश: हिंदुस्तानी मुसलमान – कल, आज और मुस्तक़बिल”** जो आज आपके हाथों में है, महज़ मेरी रातों की बेदारी और मेरी फ़िक्र का नतीजा नहीं है। इन लफ़्ज़ों को कागज़ के पन्नों पर उतार कर एक मुकम्मल किताब की शक़्ल में आप तक पहुँचाने का पूरा सेहरा **‘Qalamse.com’** के सर बंधता है। मैं दिल की गहराइयों से उनका शुक्रगुज़ार हूँ कि उन्होंने हमारी क़ौम के इस दर्द और मुस्तक़बिल की इस आवाज़ को न सिर्फ़ समझा, बल्कि इसे आवाम तक पहुँचाने का बीड़ा भी उठाया। जब यह मसौदा उनके पास पहुँचा, तो उन्होंने इसे महज़ एक कारोबारी नज़र से नहीं देखा, बल्कि एक क़ौमी और समाजी ज़िम्मेदारी के तौर पर इसे निखारा। उनके पूरे अमले की मेहनत, उनकी लगन और इस किताब **“एक नई सुबह की तलाश: हिंदुस्तानी मुसलमान – कल, आज और मुस्तक़बिल”** की छपाई में दिखाए गए उनके हुनर ने मेरे सादे लफ़्ज़ों को एक नई रूह बख़्शी है। एक इंसान के लिए इससे बड़ी खुशी क्या हो सकती है कि उसे एक ऐसा पब्लिशर मिले जो उसके जज़्बात की पूरी हिफ़ाज़त करे और उसे वही शक़्ल दे जो उसके दिल में थी। इस बेमिसाल साथ और इस शानदार सफ़र के लिए, मैं **‘Qalamse.com’** का ताउम्र एहसानमंद रहूँगा।

दुआगो,
डॉ. सैयद नासिर शाह
लेखक / विचारक

इंतिसाब

यह किताब “**एक नई सुबह की तलाश: हिंदुस्तानी मुसलमान – कल, आज और मुस्तक्रबिल**” जिसके हर वरक़ पर मुआशरे का दर्द और एक कड़वी हक़ीक़त रक़म है, मैं निहायत अकीदत के साथ मंसूब करता हूँ:

अपने मरहूम वालिद जनाब **डॉ. सैयद मशहूद अली** और शफीक वालिदा मोहतरमा **सबीहा जबीन** के नाम, जिनकी पाकीज़ा तरबियत और दुआओं ने मुझे हमेशा हक़ और सच की राह पर चलने का हौसला बख़्शा।

अपने अज़ीज़ मरहूम भाई **डॉ. सैयद यासिर यज़दानी** के नाम, जिनकी बेलौस मुहब्बत और हसीन यादें मेरे दिल का कीमती सरमाया हैं, और जिनकी जुदाई का दर्द आज भी मेरी रूह में ताज़ा है।

अपनी शरीक-ए-हयात **रुख़सार नासिर** और **नाबिश** के नाम, जिन्होंने इस तवील, कठिन और सब्र-आज़मा फ़िक़्री सफ़र में हर कदम पर मेरा ख़ामोश और मज़बूत साथ दिया।

और अपनी तीनों बेटियों, **सय्यदा ज़ैनब फातिमा**, **अज़ीज़ा ज़हरा मरवा** और **अज़ीज़ा इरहा हयात** के नाम, इस उम्मीद, दुआ और यकीन के साथ कि उनका मुस्तक्रबिल एक ऐसे मुआशरे में परवान चढ़ेगा जो खौफ़ के बजाय अदल, तालीम, बराबरी और बा-वकार शऊर पर मबनी हो।

दुआ-ए-मगफिरत की खास दरखास्त

मैं इस किताब के तमाम कारीर्दन (पढ़ने वालों) से निहायत आजिज़ी, खुलूस और अदब के साथ दरखास्त करता हूँ कि वह अपनी दुआओं में मेरे खानदान के उन अज़ीम बुजुर्गों और अज़ीज़ों को ज़रूर याद रखें जो अब इस दुनिया-ए-फानी से रुखसत हो चुके हैं। उनका इल्मी, रूहानी और समाजी विरसा ही मेरी असल ताक़त है और उन्हीं की पाकीज़ा तरबियत का सदका है कि मैं हक़ की इस जद्दोज़हद में अपना कदम बढ़ा सका। मेरी आपसे इल्तिजा है कि अल्लाह रब्ब-उल-इज़ज़त की बारगाह में इन तमाम अरवाह-ए-तैय्यबा की मगफिरत, उनके दर्जात की बुलंदी और जन्नत-उल-फिरदौस में आला मक़ाम के लिए खुसूसी दुआ फरमाएं:

- मेरे परनाना: **अल्लामा अनवर शाह कश्मीरी**
- मेरे परदादा: **हकीम सैयद महफूज़ अली साहब**
- मेरे दादा: **हकीम सैयद महमूद अली साहब**
- मेरी दादी: **सय्यदा आबिदा खातून**
- मेरे नाना: **सैयद अज़हर शाह कैसर साहब**
- मेरी नानी: **सय्यदा राशदा खातून**
- मेरे मोहतरम वालिद: **डॉ. सैयद मशहूद अली साहब**
- मेरे मामा: **सैयद राहत शाह साहब, मौलाना नसीम अख्तर शाह साहब और सैयद अतहर शाह साहब**
- मेरे चचा: **हकीम सैयद मुशर्रफ अली साहब और हकीम सैयद आसिफ अली साहब**
- मेरे खालू: **सैयद मरगूब अहमद साहब**
- मेरे अज़ीज़ बड़े भाई: **डॉ. सैयद यासिर यज़दानी साहब**
- और मेरे दोस्त, **अहबाब और रिश्तेदार** जो इस दुनिया से रुखसत हो गए।

अल्लाह रब्ब-उल-इज़ज़त इन तमाम मरहूमीन की कब्रों को नूर से भर दे, उनकी खताओं को दरगुज़र फरमाए, उनकी नेकियों को कुबूल फरमाए और उन्हें अपने जवार-ए-रहमत में आला तरीन मक़ाम अता फरमाए। **आमीन।**

विषय-सूची (इंडेक्स)

| पेज (Page) | अध्याय / विषय (Chapter / Topic) |

- | 7 | दीबाचा |
- | 9 | तम्हीद: इस किताब की ज़रूरत...
- | 11 | बाब 1: सियासी ज़वाल और माशी तबाही का आगाज़...
- | 14 | बाब 2: अंग्रेज़ी हुकूमत के असरात और मुसलमानों की...
- | 19 | बाब 3: सर सैयद अहमद खान की फ़िक्र और ...
- | 23 | बाब 4: आज़ादी की तहरीक में मुसलमानों का...
- | 28 | बाब 5: बंटवारे का ज़ख्म और मुसलमानों की माशी बे-वज़नी...
- | 37 | बाब 6: सरकारी रोज़गार और बड़ी सनअतों में मुसलमानों...
- | 44 | बाब 7: तालीमी पसमांदगी: अस्बाब, ग़लतियां और...
- | 51 | बाब 8: सच्चर कमेटी और रंगनाथ मिश्रा कमीशन की...
- | 60 | बाब 9: आला तालीम में मुसलमान: हालिया सरकारी आंकड़ों...
- | 66 | बाब 10: ख़ौफ़ और गुरबत का गठजोड़: एक आम मुसलमान...
- | 73 | बाब 11: असरी और दीनी तालीम का तवाजुन: वक़्त की...
- | 80 | बाब 12: माशी खुद कफ़ालत: छोटे कारोबार, तिजारत...
- | 85 | बाब 13: सरकारी और फ़लाही मंसूबे: इनका...
- | 92 | बाब 14: नौजवानों के लिए नए रास्ते: हुनर, महारत...
- | 97 | बाब 15: औरतों की तालीम और माशी तरक्की में उनका हिस्सा ...
- | 102 | बाब 16: क़ौमी इत्तेहाद और सियासी शऊर:...
- | 108 | हर्फ़-ए-आखिर

दीबाचा

कोई भी किताब सिर्फ़ स्याही और कागज़ के पन्नों से नहीं बनती। उसके पीछे एक दर्द होता है, एक तड़प होती है और रातों की वो नींदें होती हैं जो किसी गहरी फ़िक्र में कुर्बान कर दी जाती हैं। यह किताब, जिसे आप इस वक़्त अपने हाथों में थामे हुए हैं, मेरे किसी शौक़ या दिखावे का नतीजा नहीं है। यह दरअसल उस बेचैनी और उस घुटन की पैदावार है जो मुझे बरसों से अंदर ही अंदर खाए जा रही थी।

जब भी मैं अपनी बस्तियों की तंग और सीलन भरी गलियों से गुज़रता, नुक्कड़ों पर अपनी जवानी बर्बाद करते हुए नौजवानों को देखता, या किसी मज़दूर बाप की झुकी हुई कमर पर ग़रीबी और बेरोज़गारी का बोझ महसूस करता, तो मेरे ज़हन में एक ही सवाल हथौड़े की तरह चोट करता था—आखिर हम यहाँ तक कैसे पहुँच गए? जो क़ौम कभी मुल्क को इल्म, तहज़ीब और हुनर का रास्ता दिखाती थी, वो आज सरकारी फाइलों, अदालतों और तालीमी रिपोर्टों में सबसे निचले पायदान पर रेंगने के लिए क्यों मजबूर है?

मैंने हमेशा यह महसूस किया है कि हम माज़ी के शानदार क्रिस्से सुनाने में तो बहुत माहिर हैं। हम अपने आबा-ओ-अजदाद की हुकूमतों पर फ़ख्र करते हैं, लेकिन अपने आज की कड़वी हक़ीक़त का सामना करने से घबराते हैं। जब आज़ादी के बाद के सरकारी आंकड़े, सच्चर कमेटी और आला तालीम के सर्वे की रिपोर्टें मेरे सामने आईं, तो मेरा कलेजा मुंह को आ गया। वो कागज़ों पर लिखे हुए महज़ नंबर नहीं थे, वो हमारी नस्लों की बर्बादी के पक्के दस्तावेज़ थे। वो उन ख़्वाबों की क़ब्रें थीं जिन्हें पैसों की कमी और निज़ाम की बेरुख़ी ने बचपन में ही दफ़न कर दिया था। उसी दर्द और उसी सदमे ने मेरे हाथों में यह क़लम थमा दिया। मैंने तय किया कि अब और शिकायतें नहीं की जाएंगी। अब हुकूमतों को कोसने या दूसरों की साज़िशों का रोना रोने से कुछ हासिल नहीं होगा। यह किताब इसी अज़म और इसी पक्के इरादे के साथ लिखी गई है कि हम अपने ज़ख़्मों को मुकम्मल तौर पर उघाड़ कर देखेंगे। हम अपनी उन मुजरिमाना ग़लतियों को तस्तीम करेंगे जो हमने खुद की हैं, और फिर उस रास्ते की तलाश करेंगे जो हमें इस ग़ुरबत और ख़ौफ़ के दलदल से बाहर निकाल सके।

इस किताब के पहले और दूसरे हिस्से में आपको वो कड़वी हकीकतें मिलेंगी जो यक़ीनन आपको बेचैन कर देंगी, शायद आपकी आँखों में आँसू भी ले आएँ। लेकिन मेरा मक़सद आपको मायूस करना हरगिज़ नहीं है। मेरा मक़सद उस ग़फ़लत की नींद को तोड़ना है जो हमारी क़ौम ने बरसों से ओढ़ रखी है। और इसीलिए, इस किताब का आख़िरी हिस्सा एक ऐसी रौशन उम्मीद का खाका है जो बिल्कुल मुमकिन है और हमारी पहुँच में है। नई तालीम, हुनरमंदी, औरतों की माशी आज़ादी, छोटे कारोबार और क़ौमी इत्तेहाद के ज़रिये हम खुद अपनी तक्रदीर कैसे बदल सकते हैं, यही इस किताब की असल रूह है।

मैंने यह किताब किसी बहुत बड़े मुफ़क्किर, आलिम या फ़लसफ़ी की हैसियत से नहीं लिखी है। मैंने इसे एक आम इंसान, एक हमदर्द और आपके एक अपने की हैसियत से लिखा है। इसके हर लफ़्ज़ में उस मज़लूम की आवाज़ शामिल है जो इस निज़ाम की चक्की में ख़ामोशी से पिस रहा है। मैंने कोशिश की है कि अल्फ़ाज़ वही हों जो हमारे और आपके दिलों की धड़कन से मेल खाते हों।

मेरी आपसे सिर्फ़ एक ही गुज़ारिश है। जब आप इस दीबाचे को पढ़ने के बाद किताब का पहला पन्ना पलटें, तो इसे महज़ कोई कहानी या मालूमात के लिए न पढ़ें। इसे एक सच्चे आईने की तरह पढ़ें, और अपने दिल से यह अहद करें कि इस किताब को ख़त्म करने के बाद आप वो इंसान नहीं रहेंगे जो इसे शुरू करने से पहले थे। आप अपनी क़ौम, अपने बच्चों और अपने मुआशरे को बदलने की एक ज़िंदा मिसाल बनेंगे। अगर मेरी इस किताब से किसी एक नौजवान को भी अपनी ज़िंदगी का नया रास्ता मिल गया, किसी एक ग़रीब बाप को आधी रोटी खाकर भी अपने बच्चे को पढ़ाने का हौसला मिल गया, या किसी एक बहन को अपने पैरों पर खड़े होने की ताक़त मिल गई, तो मैं समझूंगा कि मेरे क़लम की मेहनत, मेरे जज़्बात और मेरी रातों की बेदारी मुकम्मल तौर पर क़बूल हो गई।

तालिब-ए-दुआ,

डॉ. सैयद नासिर शाह

लेखक / विचारक

तम्हीद: इस किताब की ज़रूरत, मौजूदा हालात का दर्द और हमारा मकसद

जब हम तारीख के पन्नों को पलटते हैं, तो एक ऐसा वक़्त नज़र आता है जब इल्म, हुनर और तिजारत के मैदान में हिंदुस्तानी मुसलमान एक बहुत अहम मुक़ाम रखते थे। लेकिन आज, आज़ादी के इतने बरसों बाद, जब हम अपने इर्द-गिर्द नज़र दौड़ाते हैं, तो एक गहरी उदासी और बेचैनी का एहसास होता है। यह किताब महज़ कुछ पन्नों का मजमुआ नहीं है, बल्कि यह उस दर्द, उस फ़िक्र और उस तड़प की आवाज़ है जो आज हर उस इंसान के सीने में दबी है जो अपनी क़ौम के आने वाले कल को लेकर संजीदा है।

आखिर इस किताब की ज़रूरत क्यों पेश आई? इस सवाल का जवाब हमारी बस्तियों की तंग गलियों, दम तोड़ते कारोबार, और उन नौजवानों की आँखों में छुपा है जो तालीम हासिल करने के बावजूद बेरोज़गारी और ना-उम्मीदी का शिकार हैं। आज़ादी से पहले जो क़ौम तालीम और रहनुमाई में अपना एक वक़ार रखती थी, आज वह सरकारी आंकड़ों और दस्तावेज़ों में सबसे निचले पायदान पर खड़ी है। यह गिरावट रातों-रात नहीं आई। इसके पीछे सियासी ग़लतियां, मुल्क के हालात और खुद हमारी अपनी ग़फलत शामिल है।

हमारा असल दर्द यह नहीं है कि हम पीछे रह गए हैं, बल्कि सबसे बड़ा दर्द यह है कि एक बड़ी आबादी ने इस पस्ती को अपनी किस्मत मान लिया है। जब कोई बाप अपने बच्चे को अच्छी तालीम नहीं दे पाता, जब कोई हुनरमंद इंसान हाथों में काम न होने की वजह से मायूस लौटता है, और जब पूरी की पूरी नस्ल ख़ौफ़ और ग़रीबी के साये में बड़ी होती है, तो यह सिर्फ़ एक खानदान का नुकसान नहीं होता, बल्कि पूरी क़ौम का वजूद और मुस्तक़बिल दांव पर लग जाता है।

इस किताब को लिखने का मक़सद माज़ी की यादों में खोकर आँसू बहाना बिल्कुल नहीं है। रोने और शिकायतें करने का वक़्त अब गुज़र चुका है। हमारा मक़सद एक ऐसा सच्चा आईना पेश करना है जिसमें हम अपनी असल तस्वीर देख सकें। हम उन वजहों की गहराई में जाएंगे जिन्होंने हमें तालीमी और माशी तौर पर कमज़ोर किया। हम आज़ादी से पहले के उन हालात का जायज़ा लेंगे जहाँ से इस ज़वाल की शुरुआत हुई, और हम उन कड़वी सच्चाइयों को समझेंगे जो आज हमारे हालातों की गवाही देती हैं।

लेकिन बात सिर्फ़ मसाइल गिनाने पर ख़त्म नहीं होगी। यह किताब एक नई सुबह की तलाश है। हम आने वाले कल का एक ऐसा खाका खींचने की कोशिश करेंगे जो हवा-हवाई बातों पर नहीं, बल्कि ज़मीनी हकीक़त, जदीद तालीम, हुनरमंदी और माशी आज़ादी पर खड़ा हो। हम बात करेंगे कि कैसे छोटे कारोबार, नए दौर की तालीम और आपसी इत्तेहाद से एक नया रास्ता बनाया जा सकता है।

यह एक कोशिश है अपने नौजवानों को यह बताने की कि रास्ता कितना भी दुश्वार क्यों न हो, हौसले, सही नीयत और पक्की मंसूबा-बंदी से मंज़िल तक पहुँचा जा सकता है। आइए, एक ऐसे सफर का आगाज़ करें जो हमें मायूसी से निकालकर एक रोशन मुस्तक़बिल की तरफ़ ले जाए।

“पहला हिस्सा: माज़ी की झलक – आज़ादी से पहले का दौर”

बाब 1: सियासी ज़वाल और माशी तबाही का आगाज़

तारीख के पन्नों को जब हम पलटते हैं, तो क्रौमों के उरूज़ और ज़वाल की दास्तानें हमें बहुत कुछ सोचने पर मजबूर कर देती हैं। दुनिया का यह एक अटल उसूल रहा है कि कोई भी क्रौम सिर्फ अपनी तलवारों या गुज़रे हुए कल के फ़ख़्र पर हमेशा हुकूमत नहीं कर सकती। जब इल्म की जगह ग़फ़लत ले ले, मेहनत की जगह ऐशो-आराम मुक़र्रर हो जाए, और आने वाले कल की फ़िक्र के बजाय इंसान सिर्फ आज की रंगीनियों में खो जाए, तो ज़वाल का दरवाज़ा खुद-ब-खुद खुल जाता है। हिंदुस्तानी मुसलमानों के सियासी और माशी ज़वाल की दास्तान भी कुछ इसी कड़वी हकीक़त की बुनियाद पर खड़ी है।

अठारहवीं सदी के आगाज़ तक हिंदुस्तान की सरज़मीन दुनिया के सबसे अमीर और खुशहाल खि़त्तों में शुमार होती थी। उस दौर में मुसलमान सिर्फ तख़्त और ताज के मालिक नहीं थे, बल्कि मुल्क की माशी और तिज़ारती रंगों में भी उनका खून दौड़ता था। बंगाल के मलमल की बात हो, अवध की दस्तकारी हो, या दक्कन के हुनरमंद कारीगरों की मेहनत—मुसलमान अवाम का एक बहुत बड़ा तबका इन तमाम पेशों से जुड़ा हुआ था। बाज़ारों में उनकी दुकानें थीं, कारखानों में उनके हाथ चलते थे, और हुकूमत के निज़ाम में उनकी काबिलीयत का सिक्का चलता था। लेकिन यह उरूज़ अपनी इतिहा को पहुँचने के बाद एक ऐसे ढलान की तरफ मुड़ गया, जहाँ से वापसी का रास्ता आहिस्ता-आहिस्ता बंद होता चला गया।

इस तबाही का आगाज़ अचानक नहीं हुआ था। इसके बीज हमारे अपने ही महलों और दरबारों में बोए गए थे। मुग़ल सल्तनत की मज़बूत दीवारें जब अंदरूनी साज़िशों और आपसी लड़ाइयों से दरकने लगीं, तो पूरी क्रौम का सियासी ढांचा चरमरा गया। तख़्त के लालच में भाइयों ने भाइयों का खून बहाया, और जो ताक़त मुल्क की सरहदों को महफूज़ रखने में इस्तेमाल होनी चाहिए थी, वह अपनों को ही मिटाने में सफ़्र होने लगी। मरकज़ी हुकूमत की इस कमज़ोरी का सीधा असर मुल्क के माशी निज़ाम पर पड़ा। सूबेदार और नवाब आज़ाद तो हो गए, लेकिन उनके पास कोई ऐसा नज़रिया या दूरअंदेशी नहीं थी जो बदलती हुई दुनिया के साथ क़दम मिला सके।

यही वह दौर था जब दुनिया एक बहुत बड़े इंकलाब से गुज़र रही थी। एक तरफ यूरोप में इल्म, साइंस और नई मशीनों का दौर शुरू हो रहा था। वहां प्रिंटिंग प्रेस लग रहे थे, नए समुद्री रास्तों की खोज हो रही थी, और तिजारत के नए उसूल बनाए जा रहे थे। और दूसरी तरफ, हमारे यहाँ इल्म के दरवाज़े बंद किए जा रहे थे। हमारी महफ़िलों में अब दुनियावी इल्म, नई ईजादात और मुस्तक़बिल की मंसूबा-बंदी पर बात नहीं होती थी, बल्कि शेरों-शायरी, कबूतरबाज़ी और ऐशो-इशरत के क़िस्से बयान किए जाते थे। हमने यह समझ लिया था कि हमारे आबा-ओ-अजदाद की कमाई हुई इज़्ज़त और दौलत हमेशा हमारे काम आएगी। इल्म और हुनर से इसी दूरी ने हमें उस मुक़ाम पर ला खड़ा किया जहाँ से हमें सिर्फ दूसरों का मोहताज होना था। जब हमारी ग़फ़लत अपने उरूज़ पर थी, तभी समंदर के रास्ते एक ऐसी आफ़त ने हिंदुस्तान का रुख किया जिसने हमारी बची-खुची सियासी और माशी ताक़त को भी जड़ से उखाड़ फेंका। ईस्ट इंडिया कंपनी महज़ कुछ तिज़ारती जहाज़ लेकर नहीं आई थी; वह अपने साथ एक नई सोच, एक मज़बूत निज़ाम और सियासत का एक ऐसा मकरूह खेल लेकर आई थी जिसे समझने की सलाहियत हमारे हुक्मरानों में बाकी नहीं रही थी। उन्होंने हमारी अंदरूनी फूट और कमज़ोरियों को बहुत करीब से देखा और उसका भरपूर फायदा उठाया। प्लासी और बक्सर की जंगों ने सिर्फ नवाबों को शिकस्त नहीं दी, बल्कि यह हिंदुस्तान के मुसलमानों की सियासी आज़ादी के ताबूत में आखिरी कील साबित हुई। जब बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अंग्रेज़ों के हाथ में आई, तो उन्होंने सबसे पहला वार मुल्क की माशी रीढ़ पर किया। यहाँ से उस दर्दनाक तबाही का आगाज़ हुआ जिसने एक खुशहाल और आबाद क़ौम को मुफ़लिसी के गहरे गढ़े में धकेल दिया। अंग्रेज़ों की माशी नीतियां बहुत साफ़ और ज़ालिमाना थीं। उनका मक़सद हिंदुस्तान को एक ऐसे बाज़ार में तब्दील करना था जो सिर्फ उनका कच्चा माल पैदा करे और उनके कारखानों में बना हुआ सामान खरीदे। इसका सबसे खौफनाक असर हमारे दस्तकारों, बुनकरों और छोटे कारखानेदारों पर पड़ा, जिनमें एक बहुत बड़ी तादाद मुसलमानों की थी। जो कारीगर कल तक दुनिया का सबसे बेहतरीन कपड़ा बुनते थे, उन पर इतने भारी टैक्स लगा दिए गए कि उनका काम करना नामुमकिन हो गया। इतिहास के पन्नों में वह दर्द आज भी चीखता है जब मुर्शिदाबाद और ढाका के हुनरमंद बुनकरों को फाकों मरने पर मजबूर कर दिया गया। उनके पुश्तैनी हुनर को साज़िशन तबाह कर दिया गया ताकि मैनचेस्टर और लंकाशायर की मिलों में बना हुआ सस्ता कपड़ा हिंदुस्तान के बाज़ारों पर कब्ज़ा कर सके।

कारोबार और दस्तकारी तबाह होने के बाद जो लोग खेती-बाड़ी और ज़मीनों से जुड़े थे, उन पर भी एक गहरी चोट की गई। इस्तमरारी बंदोबस्त यानी परमानेंट सेटलमेंट जैसे क़ानून नाफ़िज़ किए गए। इन नए क़ानूनों ने ज़मीन की मिल्कियत के पुराने निज़ाम को तहस-नहस कर दिया। टैक्स वसूलने के लिए ऐसे सख्त नियम बनाए गए, जिन्हें वक़््त पर न चुका पाने की वजह से हज़ारों मुस्लिम ज़मींदारों और जागीरदारों की ज़मीनें नीलाम कर दी गईं। वो परिवार जो सदियों से अपनी ज़मीनों के मालिक थे, रातों-रात अपनी ही ज़मीन पर मज़दूर और बेदखल कर दिए गए। यह सिर्फ़ दौलत का छिनना नहीं था, यह उस इज़्ज़त और वक़्ार का छिनना था जो एक इंसान को समाज में सर उठाकर चलने का हौसला देता है। जैसे-जैसे सियासी ताक़त सिमटती गई, वैसे-वैसे रोज़गार के दरवाज़े भी बंद होने लगे। हुकूमत के दरबारों, फ़ौज और अदालतों में मुसलमानों की एक बड़ी तादाद ऊँचे ओहदों पर काबिज़ थी। लेकिन जब निज़ाम बदला, तो यह सारी नौकरियां भी उनके हाथों से निकल गईं। अंग्रेज़ों ने जानबूझकर ऐसा निज़ाम कायम किया जिसमें पुराने और रिवायती इल्म की कोई कद्र नहीं रही। नया क़ानून, नई ज़बान और नया अंदाज़े-हुकूमत आ चुका था, और हमारी क़ौम अपनी पुरानी रवायतों को सीने से लगाए इस बदलते हुए सैलाब में डूब रही थी। इस पूरे दौर का सबसे बड़ा अलमिया यह रहा कि जब ज़मीन पैरों के नीचे से खिसक रही थी, तब भी हमारी क़ौम के एक बड़े हिस्से ने हक़ीक़त को क़बूल करने से इंकार कर दिया। हम माज़ी के सुनहरे ख़्वाबों में इस कदर खोए रहे कि हमें अपने घरों की गिरती हुई दीवारें नज़र ही नहीं आईं। मुफ़लिसी ने जब दरवाज़े पर दस्तक दी, तो उसे भी अल्लाह की मर्ज़ी समझ कर सब्र कर लिया गया, लेकिन हालात को बदलने की वो जद्दोज़हद जो एक ज़िंदा क़ौम की निशानी होती है, वो कहीं दूर-दूर तक नज़र नहीं आई।

यह सियासी ज़वाल सिर्फ़ नक्शों पर खींची गई सरहदों के बदलने का नाम नहीं था। यह एक पूरी तहज़ीब के दरकने की आवाज़ थी। जो क़ौम कभी इंसान बन चुकी थी, वो अब अपने हक़ के लिए दूसरों के मोहताज हो गई। जो हाथ कभी दूसरों को देते थे, वो अब अपनी बक़ा के लिए फैलने लगे थे। इस दौर ने मुसलमानों की नफ़िसियात पर एक ऐसा गहरा और जानलेवा असर छोड़ा जिसने उनके अंदर से आगे बढ़ने की ललक और दुनिया का मुकाबला करने की हिम्मत को पूरी तरह निचोड़ लिया। ग़रीबी, बेरोज़गारी और सियासी बेबसी का यह वो स्याह दौर था जिसने हिंदुस्तान के मुसलमानों की एक पूरी नस्ल को खौफ और मायूसी के अंधेरे में धकेल दिया। दस्तकारी ख़त्म हो चुकी थी, ज़मीनें छिन चुकी थीं, और दरबारों से उन्हें बाहर कर दिया गया था। यही वो हालात थे जिन्होंने एक ऐसा बारूद तैयार किया जिसे अठारह सौ सत्तावन में फटना ही था।

लेकिन उस बगावत से पहले की यह माशी और सियासी तबाही, दरअसल वो गहरी चोट थी जिसने हिंदुस्तानी मुसलमानों के मुस्तक़बिल को हमेशा के लिए एक ऐसे मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया, जहाँ से वापसी का सफ़र आंसुओं, पसीने और खून की अनगिनत कुर्बानियों की मांग कर रहा था। यह दास्तान सिर्फ़ गुज़रे हुए कल का मातम नहीं है। यह हमारे लिए एक ऐसी कड़वी हकीक़त है जिसे समझे बिना हम यह जान ही नहीं सकते कि आज हम जहाँ खड़े हैं, वहाँ तक पहुँचने में हमसे कहाँ-कहाँ चूक हुई। माशी आज़ादी और सियासी वक़ार का यह जो नुक़सान इस दौर में हुआ, उसकी भरपाई आज सदियां गुज़र जाने के बाद भी मुक़म्मल तौर पर नहीं हो सकी है। और इसी अधूरेपन की दास्तान, आगे चलकर अंग्रेज़ी हुकूमत के उन असरात में और गहरी हो जाती है, जिसने पूरी क़ौम को एक अंधी गली में धकेल दिया था।

बाब 2: अंग्रेज़ी हुकूमत के असरात और मुसलमानों की बेरोज़गारी

ज़माने की करवटें कितनी बेरहम होती हैं, यह बात उस दौर के हिंदुस्तान से बेहतर शायद ही कोई और समझ सकता है। जब सियासी इक्तेदार हाथों से फिसलता है, तो वह सिर्फ़ एक बादशाह का ताज नहीं गिराता, बल्कि पूरी क़ौम के रिज़क़, वक़ार और मुस्तक़बिल को भी अपने साथ ज़मीन पर ला पटकता है। पहले बाब में हमने देखा कि किस तरह आपसी गफ़लत और कमज़ोरियों ने हमारी सियासी ताक़त को खोखला किया, लेकिन असली तबाही की दास्तान तब शुरू होती है जब बर्तानवी हुकूमत ने इस मुल्क पर अपने पंजे पूरी तरह गाड़ दिए। यह बाब महज़ तारीख के पन्नों का हिसाब नहीं है; यह उन अनगिनत उजड़े हुए घरों, बुझे हुए चूल्हों और टूटे हुए ख़्वाबों की कहानी है, जिसने एक पूरी की पूरी क़ौम को मुफ़लिसी के ऐसे ग़ार में धकेल दिया जहाँ से निकलने में उन्हें कई दहाइयां लग गईं। अठारह सौ सत्तावन की आज़ादी की जंग हिंदुस्तान की तारीख का एक ऐसा मोड़ था, जहाँ से मुसलमानों की माशी और समाजी ज़िंदगी का सबसे स्याह आगाज़ हुआ। यह जंग सिर्फ़ एक सैनिक बगावत नहीं थी, बल्कि यह अवाम के दिलों में सुलग रही आज़ादी की वो आग थी जिसमें हर मज़हब और हर तबके ने अपना खून दिया। लेकिन जब यह बगावत कुचली गई, तो अंग्रेज़ों के दिलों में सबसे ज़्यादा ख़ौफ़ और नफ़रत मुसलमानों के लिए ही पैदा हुई। बर्तानवी हुकूमरानों को यह लगता था कि यह बगावत दरअसल मुसलमानों की साज़िश थी ताकि वह अपनी खोई हुई सल्तनत वापस पा सकें। इसी बदगुमानी और नफ़रत का नतीजा था कि आज़ादी की इस जंग का सबसे भयानक और दर्दनाक बदला इसी क़ौम से लिया गया।

बगावत के बाद दिल्ली, लखनऊ और मुल्क के दीगर बड़े शहरों में जो क़त्लेआम हुआ, उसने मुसलमानों की पूरी एक नस्ल को तबाह कर दिया। लेकिन बात सिर्फ जान लेने तक महदूद नहीं रही। अंग्रेज़ों ने एक बहुत ही सोची-समझी साज़िश के तहत क़ौम की माशी रीढ़ को तोड़ने का फैसला किया। जिन लोगों पर बगावत का ज़रा सा भी शक था, उनकी पुश्तैनी जागीरें ज़ब्त कर ली गईं। बड़े-बड़े ज़मींदारों, नवाबों और रईसों को रातों-रात कंगाल कर दिया गया। जो लोग कल तक मुल्क के निज़ाम को चलाते थे, वो अपने ही वतन में दर-ब-दर की ठोकरें खाने पर मजबूर हो गए। जिनके आंगनों में कभी ज़रूरतमंदों की भीड़ लगी रहती थी, उनके अपने बच्चों के लिए एक वक़्त की रोटी मयस्सर होना मुश्किल हो गया। अंग्रेज़ी हुकूमत का सबसे बड़ा और ज़ालिमाना वार रोज़गार के मौक़ों पर हुआ। अठारह सौ सत्तावन से पहले मुल्क के फ़ौजी निज़ाम, अदालतों और पुलिस में मुसलमानों की एक बहुत बड़ी तादाद ऊंचे ओहदों पर मौजूद थी। लेकिन बगावत के बाद हुकूमत ने बाकायदा यह तय कर लिया कि अब किसी भी मुसलमान को किसी भी अहम या ज़िम्मेदारी वाले ओहदे पर नहीं रखा जाएगा। फ़ौज के दरवाज़े उनके लिए पूरी तरह बंद कर दिए गए। बड़े-बड़े ओहदे तो दूर की बात है, एक चपरासी या सिपाही की नौकरी भी किसी मुसलमान को देने से पहले सौ बार सोचा जाता था। सरकारी नौकरियों में जो क़ौम कभी साठ से सत्तर फ़ीसद की हिस्सेदारी रखती थी, वो आहिस्ता-आहिस्ता घट कर इस कदर कम हो गई कि उसे ढूँढना मुश्किल हो गया। इस माशी क़त्लेआम में सबसे बड़ा हथियार बनी एक नई तालीमी और ज़बानी पॉलिसी। सदियों से इस मुल्क में फ़ारसी ज़बान सरकारी काम-काज, अदालतों और तालीम की ज़बान थी। मुल्क का पूरा का पूरा पढ़ा-लिखा तबका फ़ारसी और अरबी में महारत रखता था। लेकिन अंग्रेज़ों ने एक ही झटके में फ़ारसी को सरकारी ज़बान के दर्जे से हटा दिया और उसकी जगह अंग्रेज़ी को नाफ़िज़ कर दिया। हुकूमत के इस एक फैसले ने रातों-रात मुल्क के एक बहुत बड़े और तालीमयाप्त तबके को अनपढ़ करार दे दिया। सोचिए उस मुफ़्ती, क़ाज़ी या मुंशी के दिल पर क्या गुज़री होगी, जिसने अपनी पूरी ज़िंदगी इल्म हासिल करने में गुज़ार दी, लेकिन सिर्फ इसलिए उसकी नौकरी छीन ली गई क्योंकि वह एक नई और अजनबी ज़बान नहीं जानता था। अदालतें अंग्रेज़ी में चलने लगीं, दफ़्तरों का सारा काम अंग्रेज़ी में होने लगा। जिन लोगों को अंग्रेज़ी नहीं आती थी, उन्हें नौकरियों से निकाल बाहर किया गया। यह सिर्फ नौकरियों का छिनना नहीं था, यह उस इज़्ज़त और रुतबे का क़त्ल था जो इल्म की वजह से उन्हें समाज में हासिल था।

यहाँ पर मुसलमानों की नफ़्सियात ने भी उन्हें बहुत नुकसान पहुँचाया। जब अंग्रेज़ी तालीम नाफ़िज़ की गई, तो मुसलमानों के मज़हबी और अवामी रहनुमाओं ने इसे अपने दीन और ईमान के लिए एक बड़ा ख़तरा समझा। यह खौफ़ पैदा हो गया कि अगर हमारे बच्चों ने अंग्रेज़ों की ज़बान पढ़ी और उनके स्कूलों में तालीम हासिल की, तो वो अपने मज़हब से दूर हो जाएंगे और ईसाईयत के असर में आ जाएंगे। नतीजतन, पूरी क्रौम ने अंग्रेज़ी तालीम का बायकॉट कर दिया। यह बायकॉट ज़ज़्बाती तौर पर चाहे जितना भी सच्चा और ईमानदार क्यों न रहा हो, लेकिन माशी तौर पर यह खुदकुशी के बराबर था। एक तरफ़ सरकार ने पुरानी तालीम वालों के लिए दरवाज़े बंद कर दिए थे, और दूसरी तरफ़ क्रौम ने नई तालीम हासिल करने से इंकार कर दिया था। इस दोहरी मार ने मुसलमानों को बेरोज़गारी और पस्ती के एक ऐसे दलदल में धकेल दिया जहाँ से कोई पुकार सुनने वाला नहीं था। नौकरियों से निकाले जाने के बाद जो लोग अपने पुश्तैनी कारोबार या दस्तकारी पर ज़िंदा थे, अंग्रेज़ों ने उन्हें भी नहीं बख़्शा। हिंदुस्तान सदियों से अपने कपड़े, बर्तन, चमड़े और दीगर दस्तकारी के लिए पूरी दुनिया में मशहूर था। ढाका की मलमल और मुर्शिदाबाद का रेशम दुनिया भर के बाज़ारों में ऊँचे दामों पर बिकता था। इन पेशों से जुड़े हुए ज़्यादातर कारीगर, बुनकर और दस्तकार मुसलमान थे। अंग्रेज़ों ने हिंदुस्तान को सिर्फ़ एक ऐसी मंडी बना दिया जहाँ से वो सस्ता कच्चा माल इंग्लैंड ले जाते थे, और वहाँ की मशीनों में बना हुआ माल लाकर हिंदुस्तान में महंगे दामों पर बेचते थे। बर्तानवी हुकूमत ने जानबूझकर हिंदुस्तान के हुनरमंद कारीगरों पर ऐसे भारी टैक्स लगा दिए कि उनका अपने हाथों से बना हुआ सामान बेचना नामुमकिन हो गया। इसके बरअक्स, इंग्लैंड से आने वाले माल पर कोई टैक्स नहीं होता था। नतीजा यह हुआ कि हिंदुस्तान के बाज़ार विदेशी सामान से भर गए और हमारे अपने कारीगर भूखे मरने लगे। वो बुनकर जिनके हाथों के हुनर की दुनिया दीवानी थी, वो अपनी करघे छोड़कर या तो मज़दूरी करने पर मजबूर हो गए या फिर ग़रीबी के हाथों दम तोड़ गए। पूरी की पूरी बस्तियां जो कभी कारखानों की आवाज़ों से गूँजती थीं, वहाँ अब खामोशी और मुफलिसी का सन्नाटा छा गया। जो हाथ दुनिया का बेहतरीन कपड़ा बुनते थे, वही हाथ अब चंद पैसों की मज़दूरी के लिए फैलने लगे। शहरों से लेकर गांवों तक, तबाही का मंज़र एक जैसा था। अंग्रेज़ों ने ज़मींदारी निज़ाम में जो नए क़ानून लागू किए, जैसे कि इस्तमरारी बंदोबस्त, उसने किसानों और छोटे ज़मींदारों की कमर तोड़ दी। टैक्स चुकाने के लिए एक दिन मुक़र्रर कर दिया गया।

सूरज डूबने से पहले अगर कोई ज़मींदार अपना टैक्स नहीं चुका पाता था, तो उसकी ज़मीन नीलाम कर दी जाती थी। चुकी मुसलमानों की माशी हालत वैसे ही खराब हो चुकी थी, इसलिए हज़ारों मुस्लिम खानदान अपनी ज़मीनों से हाथ धो बैठे। उनकी ज़मीनें नए साहूकारों और उन लोगों ने कौड़ियों के दाम खरीद लीं जो अंग्रेज़ों के वफादार थे। जो कल तक ज़मीन के मालिक थे, वो आज उसी ज़मीन पर किराएदार या खेतिहर मज़दूर बन गए। ज़िंदगी के हर शोबे में, हर मैदान में, और हर रास्ते पर सिर्फ नाकामी और बेरोज़गारी का पहरा था। इस दौर की सबसे बड़ी ट्रेजेडी यह थी कि क्रौम के पास इस तबाही से लड़ने के लिए कोई माशी या सियासी मंसूबा नहीं था। सदियों तक हुकूमत करने वाली क्रौम यह समझ ही नहीं पा रही थी कि आखिर उनके साथ क्या हो रहा है। मायूसी इस कदर हावी हो गई थी कि लोगों ने इस गरीबी को अपनी किस्मत मान लिया था। घरों के अंदर खाने को नहीं था, पहनने को फटे पुराने कपड़े थे, लेकिन झूठी शान और माज़ी की यादों का एक ऐसा तिलिस्म था जिसने उन्हें हकीकत का सामना करने से रोके रखा। एक पूरा दौर ऐसा गुज़रा जब अवाम ने अपने बच्चों को तालीम देना छोड़ दिया। उनका सोचना था कि जब तालीम हासिल करने के बाद भी नौकरी नहीं मिलनी है, और नए स्कूल उनके दीन को खराब कर देंगे, तो फिर तालीम का क्या फायदा? इस सोच ने मुसलमानों को एक ऐसी जहालत और पसमांदगी की तरफ धकेल दिया, जिसका असर आज तक महसूस किया जा सकता है। यह बेरोज़गारी सिर्फ पैसों की कमी का नाम नहीं थी, यह एक गहरे नफ़्सीयाती सदमे का नाम था। जब इंसान के पास कोई हुनर न बचे, जब तालीम किसी काम की न रहे, और जब मेहनत करने के बाद भी दो वक़्त की रोटी मयस्सर न हो, तो वह इंसान सिर्फ माशी तौर पर नहीं मरता, बल्कि उसकी रूह भी अंदर से टूट जाती है। अंग्रेज़ी हुकूमत ने बड़ी चालाकी से हिंदुस्तान के उस तबके को बिल्कुल किनारे कर दिया था जो कभी उनकी राह का सबसे बड़ा रोड़ा बन सकता था। उन्होंने एक ऐसा निज़ाम खड़ा कर दिया जिसमें मुसलमानों के लिए न कोई नौकरी थी, न कोई कारोबार, और न ही कोई इज़ज़त। यह वह वक़्त था जब बस्तियों में नौजवान बिना किसी काम के बैठे रहते थे। उनकी जवानी मायूसी की भेंट चढ़ रही थी। क्रौम के वो रहनुमा जो कल तक अपने अवाम के लिए फैसले लेते थे, वो खुद अपनी बक्का की लड़ाई लड़ रहे थे।

इस लंबे और घुटन भरे दौर ने मुसलमानों के अंदर एक ऐसा खौफ पैदा कर दिया था जो नस्ल-दर-नस्ल आगे बढ़ा। यह खौफ था बेबसी का, यह खौफ था गरीबी का, और यह खौफ था अपने ही वतन में बेगाने हो जाने का। अगर हम उस दौर की हकीकत को गहराई से समझें, तो पता चलेगा कि यह तबाही रातों-रात नहीं आई थी, बल्कि इसे एक बाक्रायदा मंसूबे के तहत अंजाम दिया गया था। अंग्रेज़ यह बात अच्छी तरह जानते थे कि अगर इस क्रौम को माशी तौर पर पंगु न किया गया, तो यह कभी न कभी दोबारा खड़ी हो सकती है।

लेकिन, रात कितनी भी लंबी और तारीक क्यों न हो, सुबह की पहली किरण कहीं न कहीं से फूट ही पड़ती है। जब पूरी क्रौम जहालत, गरीबी और बेरोज़गारी के इस समंदर में डूब रही थी, जब हर तरफ सिर्फ मायूसी के बादल छाए हुए थे, और जब मुस्तक़बिल का कोई भी रास्ता नज़र नहीं आ रहा था, तब एक शख्स ने इस गहरे अंधेरे को चीरने का फैसला किया। उस शख्स ने यह महसूस कर लिया था कि अगर यही हालात रहे, तो यह क्रौम सिर्फ तारीख की किताबों में एक कहानी बनकर रह जाएगी। यह बेरोज़गारी और यह माशी तबाही आखिरकार एक ऐसे इंकलाब का सबब बनने वाली थी जिसने आगे चलकर क्रौम की पूरी तालीमी सोच को ही बदल कर रख दिया। और यहीं से आगाज़ होता है उस जद्दोज़हद का, जिसे हम सर सैयद अहमद खान की तालीमी तहरीक के नाम से जानते हैं।

बाब 3: सर सैयद अहमद खान की फ़िक्र और तालीमी तहरीक की अहमियत

जब किसी क्रौम पर ज़वाल आता है, तो सबसे पहले उसकी सोचने-समझने की सलाहियत छिन जाती है। अठारह सौ सत्तावन की ग़दर के बाद हिंदुस्तानी मुसलमानों का हाल उस मुसाफ़िर की तरह हो गया था, जिसका कारवां लुट चुका हो, रहनुमा मारे जा चुके हों, और सामने सिर्फ़ एक अंतहीन और खौफनाक रेगिस्तान हो। पिछले बाब में हमने देखा कि किस तरह अंग्रेज़ों ने मुसलमानों से उनके कारोबार, उनकी ज़मीनों और उनकी नौकरियां छीन ली थीं। हर तरफ़ मायूसी का ऐसा घना कोहरा था जिसमें उम्मीद की कोई किरण नज़र नहीं आती थी। दिल्ली, जो कभी इल्म और तहज़ीब का मरकज़ थी, अब एक उजड़ा हुआ शहर बन चुकी थी। ऐसे घुटन भरे और तारीक़ हालात में, जब पूरी क्रौम ने अपनी बर्बादी को अपनी किस्मत मानकर खामोशी ओढ़ ली थी, तब एक ऐसी आवाज़ उठी जिसने इस खामोशी को चीर कर रख दिया। यह आवाज़ किसी सिपहसालार की नहीं थी, किसी बादशाह की नहीं थी, बल्कि एक फ़िक्रमंद इंसान की थी, जिसका दिल अपनी क्रौम के दर्द से लहलुहा था। यह आवाज़ थी सर सैयद अहमद खान की। सर सैयद ने वो सब कुछ अपनी आँखों से देखा था जो इस क्रौम पर गुज़रा था। उन्होंने दिल्ली की गलियों में अपनों की लाशें देखी थीं, उन दरबारों को उजड़ते देखा था जहाँ कभी फैसले हुआ करते थे। उस वक़्त उनके पास भी दो रास्ते थे—या तो वह भी बाकी लोगों की तरह अफ़सोस करते, माज़ी के गीत गाते और हालात से समझौता कर लेते, या फिर इस तूफ़ान से टकरा कर क्रौम की डूबती हुई कश्ती को किनारे लगाने की जद्दोज़हद करते। उन्होंने दूसरा रास्ता चुना। सर सैयद की फ़िक्र का सबसे बड़ा पहलू यह था कि उन्होंने बहुत जल्दी इस हक़ीक़त को क़बूल कर लिया था कि अब तलवारों का दौर ख़त्म हो चुका है। उन्होंने गहराई से इस बात पर ग़ौर किया कि आखिर मुट्ठी भर अंग्रेज़ सात समंदर पार से आकर इस अज़ीम मुल्क पर कैसे क़ाबिज़ हो गए? उनके पास ऐसी कौन सी ताक़त थी जो हमारे पास नहीं थी? और उनका जवाब बहुत साफ़ था—इल्म, साइंस, नई सोच और जदीद तालीम। अंग्रेज़ों ने यह मुल्क किसी तिलिस्म या जादू से नहीं जीता था, बल्कि उन्होंने यह कामयाबी अपने मज़बूत निज़ाम और नई दुनियावी तालीम के दम पर हासिल की थी। सर सैयद समझ गए थे कि अगर मुसलमानों को इस नई दुनिया में ज़िंदा रहना है, अपनी खोई हुई इज़ज़त वापस पानी है, तो उन्हें अंग्रेज़ों की ज़बान और उनकी तालीम को हथियार बनाना ही होगा।

यहीं से सर सैयद की उस आज़ाद और रोशन फ़िक्र का आगाज़ होता है जिसने आगे चलकर एक पूरी तहरीक की शकल इस्तिथार कर ली। लेकिन यह रास्ता बिल्कुल भी आसान नहीं था। अंग्रेज़ों से लड़ना शायद आसान होता, लेकिन अपनों की जहालत और उनके खौफ से लड़ना सबसे मुश्किल काम था। उस वक़्त के मुसलमानों में यह बात बहुत गहराई तक बैठी हुई थी कि अंग्रेज़ी ज़बान और मगरिबी तालीम उनके दीन के लिए सबसे बड़ा ख़तरा है। लोगों को लगता था कि अगर उनके बच्चे अंग्रेज़ी स्कूल में जाएंगे, तो वह अपना मज़हब भूल जाएंगे। सर सैयद ने जब जदीद तालीम की बात शुरू की, तो पूरी क़ौम में उनके खिलाफ़ एक तूफ़ान खड़ा हो गया। उन्हें काफ़िर कहा गया, उनके खिलाफ़ फतवे जारी किए गए, और यहाँ तक कि उन्हें जान से मारने की धमकियाँ भी दी गईं। लेकिन सर सैयद पहाड़ की तरह डटे रहे। उनका मानना था कि सच्चा दीन किसी ज़बान या किसी दुनियावी इल्म से कमज़ोर नहीं पड़ सकता। उनका वो मशहूर क़ौल आज भी तारीख के पन्नों पर सुनहरे हुरूप में दर्ज है, जहाँ उन्होंने कहा था कि मुझे उस दिन की तलाश है जब मुसलमान नौजवान के एक हाथ में कुरान हो और दूसरे हाथ में साइंस। यह फ़िक्र उस दौर के लिहाज़ से एक बहुत बड़ा इंकलाब थी। अपनी इस फ़िक्र को अमली जामा पहनाने के लिए सर सैयद ने सिर्फ़ तकरीरें नहीं कीं, बल्कि उन्होंने बाक़ायदा ज़मीनी सतह पर काम शुरू किया। उन्होंने महसूस किया कि सबसे पहले लोगों की सोच को बदलना होगा। इसके लिए उन्होंने साइंटिफिक सोसाइटी की बुनियाद रखी, जिसका मक़सद यह था कि दुनिया भर की बेहतरीन साइंसी और दुनियावी किताबों का उर्दू में तर्जुमा किया जाए, ताकि हमारे लोग अपनी ज़बान में दुनिया के नए इल्म से वाकिफ़ हो सकें। इसके साथ ही उन्होंने तहज़ीब-उल-अख़लाक़ नाम का एक रिसाला निकाला। इस रिसाले ने मुसलमानों की सोच में एक ऐसा ज़लज़ला पैदा किया जिसने सदियों की जमी हुई जहालत की बर्फ़ को पिघलाना शुरू कर दिया। सर सैयद की तालीमी तहरीक का सबसे बड़ा और अज़ीम शाहकार था मदरसातुल उलूम, जो बाद में मोहम्मडन एंग्लो-ओरिएंटल कॉलेज बना, और जिसे आज हम अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के नाम से जानते हैं। यह सिर्फ़ ईंट और गारे से बनी हुई एक इमारत नहीं थी, यह हिंदुस्तानी मुसलमानों के मुस्तक़बिल का सबसे बड़ा मंसूबा था। सर सैयद इस कॉलेज को ऑक्सफ़ोर्ड और कैम्ब्रिज की तर्ज़ पर बनाना चाहते थे, जहाँ तालीम के साथ-साथ नौजवानों की तरबियत भी हो सके। वो चाहते थे कि यहाँ से निकलने वाला नौजवान सिर्फ़ एक क्लर्क या नौकर न बने, बल्कि वह एक ऐसा बा-ज़मीर और बा-वक़ार इंसान बने जो दुनिया की आँखों में आँखें डाल कर बात कर सके।

इस इदारे को खड़ा करने के लिए सर सैयद ने जो कुर्बानियां दीं, वो आज पढ़कर आँखें नम कर देती हैं। एक शख्स जो शाही खानदान से ताल्लुक रखता था, जिसका अपना एक बहुत बड़ा रुतबा था, वह अपनी क्रौम के बच्चों के लिए झोली फैलाकर चंदा मांगने निकल पड़ा। उन्होंने लोगों की गालियां सुनीं, ताने बर्दाश्त किए। तारीख में यह वाक़िया भी दर्ज़ है कि एक बार जब वह चंदा मांग रहे थे, तो किसी ने गुस्से में उनके ऊपर जूता फेंक कर मार दिया। सर सैयद ने उस जूते को उठाया और कहा कि मैं इसे बाज़ार में बेचकर जो पैसा मिलेगा, उसे भी कॉलेज के फंड में डाल दूंगा। यह उस फ़िक्रमंद इंसान की आखिरी दर्जे की तड़प थी, जिसे अपने मान-सम्मान से ज़्यादा अपनी क्रौम के मुस्तक़बिल की फ़िक्र थी।

अलीगढ़ तहरीक की अहमियत सिर्फ़ एक तालीमी इदारा बनाने तक महदूद नहीं थी। इस तहरीक ने दरअसल मुसलमानों को उस नफ़्फ़िसियाती ग़ार से बाहर निकाला जिसमें वो अठारह सौ सत्तावन के बाद गिर चुके थे। इस तहरीक ने क्रौम को यह सिखाया कि गुज़रे हुए कल का मातम करने से कुछ हासिल नहीं होगा, बल्कि हमें आने वाले कल के लिए खुद को तैयार करना होगा। सर सैयद ने अपने अवाम को सियासत से दूर रहकर सिर्फ़ और सिर्फ़ अपनी तालीम और माशी हालत सुधारने पर ज़ोर दिया। उनका मानना था कि जब तक क्रौम तालीमी और माशी तौर पर मज़बूत नहीं होगी, तब तक कोई भी सियासी जद्दोज़हद कामयाब नहीं हो सकती। इस तहरीक का असर यह हुआ कि मुसलमानों के अंदर एक नया तालीम-याफ़्ता तबका उभर कर सामने आया। अलीगढ़ से तालीम हासिल करने वाले नौजवानों ने न सिर्फ़ सरकारी नौकरियों में अपनी खोई हुई जगह वापस हासिल करना शुरू की, बल्कि उन्होंने अदब, सहाफ़त, और समाज सुधार के हर मैदान में अपना लोहा मनवाया। मौलाना अल्ताफ़ हुसैन हाली, शिबली नोमानी, और नज़ीर अहमद जैसे अज़ीम मुफ़क्किर इसी तहरीक के असर से पैदा हुए, जिन्होंने आगे चलकर क्रौम की रहनुमाई की। सर सैयद अहमद खान की यह तालीमी तहरीक दरअसल एक डूबती हुई क्रौम को ज़िंदगी का वो सहारा देने की मुहिम थी, जिसने पूरे मुल्क की तारीख़ बदल कर रख दी। अगर उस वक़्त सर सैयद यह फ़िक्र लेकर सामने न आते, अगर उन्होंने लोगों की मुखालफ़त के डर से अपने कदम पीछे खींच लिए होते, तो शायद हिंदुस्तानी मुसलमान जहालत और ग़रीबी के उस दलदल से कभी बाहर ही न आ पाते। उन्होंने अपनी क्रौम को उस वक़्त नई तालीम से जोड़ा जब दुनिया बहुत तेज़ी से बदल रही थी।

आज जब हम पीछे मुड़कर देखते हैं, तो हमें एहसास होता है कि सर सैयद अहमद खान सिर्फ एक रहनुमा नहीं थे, बल्कि वह एक ऐसा रोशन चिराग़ थे जिसने तूफ़ान के बीच जलकर अपनी क्रौम को किनारा दिखाया। उनकी यह तहरीक इस बात की सबसे बड़ी दलील है कि हालात चाहे कितने भी ख़राब क्यों न हों, हुकूमतें चाहे कितनी भी जालिम क्यों न हों, अगर क्रौम के अंदर इल्म हासिल करने की तड़प और अपनी हक़ीक़त को तस्लीम करने का हौसला हो, तो कोई भी उसे दुनिया के नक़्शे से मिटा नहीं सकता।

सर सैयद की इसी फ़िक्र और इसी तालीमी इंकलाब ने वो ज़मीन तैयार की, जिस पर खड़े होकर आगे चलकर हिंदुस्तानी मुसलमानों ने आज़ादी की तहरीक में अपना वो किरदार अदा किया, जिसकी मिसाल दुनिया की तारीख़ में मिलना मुश्किल है। यह इल्म ही था जिसने उन्हें अपने हक़ को पहचानने की ताक़त दी, और इसी इल्म की बदौलत उन्होंने आज़ादी के ख़्वाब को अपनी आँखों में पनाह दी, जिसका ज़िक्र हम अगले बाब में तपसील से करेंगे।

बाब 4: आज़ादी की तहरीक में मुसलमानों का किरदार और उनके ख्वाब

ज़िंदा क़ौम में जब अपने हक़ और अपनी आज़ादी के लिए खड़ी होती हैं, तो तारीख़ के पन्नों पर उनके खून और पसीने से जो दास्तान लिखी जाती है, उसे कोई ज़माना मिटा नहीं सकता। सर सैयद अहमद खान की तालीमी तहरीक ने मुसलमानों के अंदर इल्म की जो शमा रौशन की थी, उसने महज़ उन्हें नौकरियां हासिल करने का रास्ता नहीं दिखाया, बल्कि उनके अंदर वो सियासी शऊर भी पैदा कर दिया जो किसी भी गुलाम क़ौम को अपनी ज़ंजीरें तोड़ने पर मजबूर कर देता है। जब तालीम से सोच के दरवाज़े खुले, तो यह एहसास और भी गहरा हो गया कि माशी और तालीमी तरक्की तब तक मुकम्मल नहीं हो सकती, जब तक क़ौम सियासी तौर पर आज़ाद न हो। आज़ादी की तहरीक महज़ एक सियासी जद्दोज़हद नहीं थी, यह एक ऐसे मुस्तक़बिल का ख्वाब था जिसे इस मुल्क के मुसलमानों ने अपनी रातों की नींदें और अपने दिनों का सुकून लुटा कर बुना था।

जब हम मुल्क को आज़ाद कराने की लड़ाई का ज़िक्र करते हैं, तो यह दास्तान उन उलेमाओं, दानिशवरों, नौजवानों और आम इंसानों की कुर्बानियों के बिना बिल्कुल अधूरी है, जिन्होंने बर्तानवी हुकूमत की तोपों और फांसियों का हंसते हुए सामना किया। यह वो लोग थे जिनका यह पुख्ता अक़ीदा था कि आज़ादी की क़ीमत चाहे कितनी भी बड़ी क्यों न हो, वो इसे चुकाने से पीछे नहीं हटेंगे। आज़ादी की इस आग को भड़काने में हमारे मदारिस और उलेमाओं का किरदार बहुत अज़ीम रहा है। जब अंग्रेज़ों ने मुसलमानों की जागीरें ज़ब्त कर लीं और उन्हें माशी तौर पर पंगु बना दिया, तब इन्हीं उलेमाओं ने अपनी खानकाहों और मदरसों से निकल कर अवाम को बेदार करने का बीड़ा उठाया। दारुल उलूम देवबंद सिर्फ एक दीनी इदारा नहीं था, बल्कि वह बर्तानवी साम्राज्यवाद के खिलाफ़ बगावत का एक मज़बूत क़िला था। मौलाना महमूद हसन, जिन्हें दुनिया 'शैखुल हिन्द' के नाम से जानती है, उन्होंने अंग्रेज़ों को इस मुल्क से बाहर निकालने के लिए एक ऐसा ख़ुफ़िया मंसूबा तैयार किया जिसे हम 'रेशमी रुमाल तहरीक' के नाम से याद करते हैं।

यह कोई मामूली मंसूबा नहीं था। इसमें अफगानिस्तान, तुर्की और दीगर मुल्कों की मदद से अंग्रेज़ों के खिलाफ़ एक आज़ाद फ़ौज खड़ी करने की कोशिश की गई थी। पीले रंग के रेशमी रुमालों पर खुफ़िया पैग़ाम लिखे जाते थे और उन्हें एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाया जाता था। जब यह राज़ अंग्रेज़ों पर खुला, तो मौलाना महमूद हसन और उनके साथियों को गिरफ्तार कर लिया गया और माल्टा के एक भयानक और सुन्न कर देने वाले टापू पर कैद कर दिया गया। वहां उन्हें ऐसी-ऐसी अमानवीय यातनाएं दी गईं जिन्हें सुनकर आज भी रूह कांप जाती है। लेकिन वो आज़ादी के ऐसे दीवाने थे कि जब बरसों बाद वो उस कैद से रिहा होकर वापस लौटे, तो उनके चेहरों पर रत्ती भर भी मायूसी नहीं थी, बल्कि उनकी आँखों में आज़ाद हिंदुस्तान का ख़्वाब और भी ज़्यादा मज़बूत हो चुका था। मौलाना उबैदुल्लाह सिंधी ने जो अपना पूरा जीवन वतन से दूर रहकर आज़ादी की जद्दोज़हद में गुज़ार दिया, वो भी इसी ख़्वाब की एक ज़िंदा मिसाल हैं।

जैसे-जैसे वक़्त आगे बढ़ा, यह जद्दोज़हद सिर्फ़ उलेमाओं तक महदूद नहीं रही। बीसवीं सदी की शुरुआत के साथ ही इस तहरीक ने अवाम के दिलों में अपनी जगह बना ली। खिलाफत तहरीक का दौर हिंदुस्तान की तारीख़ का वो सुनहरा पन्ना है, जब हिंदू और मुसलमान कंधे से कंधा मिलाकर एक ही मक़सद के लिए अंग्रेज़ों के खिलाफ़ खड़े हुए थे। मौलाना मुहम्मद अली जौहर और मौलाना शौकत अली, जिन्हें हम ‘अली बिरादरान’ के नाम से जानते हैं, उन्होंने अपनी ललकार से पूरे मुल्क को जगा दिया। जब मौलाना जौहर तकरीर करते थे, तो लाखों के मजमे में एक अजीब सा जोश भर जाता था। उन्होंने आज़ादी की खातिर अपनी पूरी ज़िंदगी जेल की काल-कोठरियों और मुक़दमों में गुज़ार दी। गोलमेज़ कांफ्रेंस में उनका वो तारीख़ी जुमला आज भी हमारे कानों में गूँजता है जब उन्होंने अंग्रेज़ों से कहा था कि “मैं एक गुलाम मुल्क में वापस जाने के बजाय यहाँ एक आज़ाद मुल्क में मरना पसंद करूँगा,” और आखिरकार उन्होंने लंदन की उसी ज़मीन पर अपनी आखिरी सांस ली। इस लड़ाई में जवानी की दहलीज़ पर कदम रखने वाले नौजवानों का जज़्बा भी किसी से कम नहीं था। काकोरी के वाक़ये को कौन भूल सकता है? अशफ़ाकुल्लाह ख़ान, वो नौजवान जिसके सीने में वतन के लिए बेपनाह मोहब्बत थी। जब उन्हें फांसी की सज़ा सुनाई गई, तो उनके चेहरे पर खौफ़ की कोई लकीर नहीं थी। वो अपने दोस्तों, अपने साथियों और अपने मुल्क के लिए अपनी जान कुर्बान करने जा रहे थे।

फांसी के फंदे को चूमने से पहले उनके वो अल्फ़ाज़ आज भी हमें याद दिलाते हैं कि उनका ख़्वाब क्या था। उन्होंने कहा था कि “मेरी कोई आरजू नहीं है, मेरी वाहिद आरजू मेरे मुल्क की आज़ादी है।” अशफ़ाकुल्लाह ख़ान और राम प्रसाद बिस्मिल की दोस्ती ने इस मुल्क को यह पैग़ाम दिया था कि जब मुल्क की आज़ादी की बात आती है, तो हिंदू और मुसलमान एक ही मिट्टी के वो दो लाल हैं, जो अपने वतन के लिए एक साथ अपनी जान लुटा सकते हैं।

इस पूरे दौर में अगर हम दानिशमंदी और सियासी बसीरत की बात करें, तो मौलाना अबुल कलाम आज़ाद का नाम सबसे ऊंचे मुक़ाम पर नज़र आता है। वो एक ऐसे रहनुमा थे जिन्होंने बहुत कम उम्र में अपनी क़लम को अंग्रेज़ी हुकूमत के ख़िलाफ़ एक नंगी तलवार बना दिया था। उनके अख़बार ‘अल-हिलाल’ और ‘अल-बलाग़’ ने मुल्क के नौजवानों में वो आग भर दी जिसे अंग्रेज़ पानी डालकर भी बुझा नहीं पा रहे थे। मौलाना आज़ाद सिर्फ़ एक जज़्बाती रहनुमा नहीं थे, वो एक दूरअंदेश मुफ़क्किर थे। वो यह बात अच्छी तरह जानते थे कि आज़ादी सिर्फ़ उस वक़्त काम आएगी जब यह मुल्क एक रहेगा। उन्होंने अपनी पूरी ज़िंदगी इस मुल्क की यकजहती और हिंदू-मुस्लिम इत्तेहाद के लिए वक़फ़ कर दी। जब मुल्क के बंटवारे की बातें शुरू हुईं, तो मौलाना आज़ाद एक पहाड़ की तरह उस तूफ़ान के सामने खड़े हो गए। उन्होंने मुसलमानों को बार-बार आगाह किया कि यह बंटवारा उनके लिए माशी, सियासी और तालीमी तौर पर सबसे बड़ी तबाही साबित होगा। उनका ख़्वाब एक ऐसे हिंदुस्तान का था जहाँ हर मज़हब और हर तबके के लोग आज़ादी की खुली हवा में सांस ले सकें।

सिर्फ़ मर्दों ने ही नहीं, बल्कि हमारी औरतों ने भी आज़ादी की इस जंग में वो किरदार अदा किया जो तारीख़ की किताबों में हमेशा रौशन रहेगा। बी अम्मा यानी आबादी बानो बेगम (अली बिरादरान की वालिदा) का ज़िक्र किए बिना आज़ादी की कहानी मुकम्मल नहीं हो सकती। जब उनके बेटे जेलों में कैद थे, तब इस बूढ़ी औरत ने पूरे मुल्क का दौरा किया और लोगों को आज़ादी के लिए घरों से बाहर निकलने पर मजबूर कर दिया। वो औरतें जो हमेशा पर्दों और चारदीवारियों में रहीं, वो वतन की आज़ादी के लिए सड़कों पर आ गईं, उन्होंने अपने ज़ेवर आज़ादी के फंड में दान कर दिए और अपने बच्चों को हंसते-हंसते जेलों में भेज दिया।

सवाल यह पैदा होता है कि आखिर वो कौन सा ख्वाब था, वो कौन सी तड़प थी जिसके लिए लाखों मुसलमानों ने अपनी जान, माल और औलाद को दांव पर लगा दिया? वो ख्वाब महज़ अंग्रेज़ों की गुलामी से निजात पाने का नहीं था। उनका ख्वाब था अपनी उस खोई हुई इज़्ज़त को वापस पाना, जो अंग्रेज़ी निज़ाम ने उनसे छीन ली थी। उनका ख्वाब था कि आज़ाद मुल्क में उनके कारोबार फिर से पनपेंगे, उनके हुनरमंद हाथों को उनका हक़ मिलेगा, और उनके बच्चे एक ऐसे निज़ाम में तालीम हासिल करेंगे जहाँ उन्हें किसी नई ज़बान या विदेशी क़ानून की वजह से बेरोज़गारी का दंश नहीं झेलना पड़ेगा।

उन्होंने एक ऐसे आज़ाद मुल्क का तसव्वुर किया था जहाँ मस्जिदों की अज़ानें और मंदिरों की घंटियां एक साथ गूँजेगी, जहाँ सियासत में उन्हें बराबर की हिस्सेदारी मिलेगी, और जहाँ कोई उन्हें शक की निगाह से नहीं देखेगा। उन बुनकरों ने, उन मज़दूरों ने और उन किसानों ने जो सदियों से पिस रहे थे, आज़ादी की तहरीक में इसलिए अपना लहू दिया क्योंकि उनके रहनुमाओं ने उन्हें यह यकीन दिलाया था कि जब अपना मुल्क होगा, तो कोई भी उन्हें मुफ़लिसी में मरने के लिए नहीं छोड़ेगा।

यह कोई मामूली जज़्बा नहीं था। जब जलियांवाला बाग़ में गोलियां चल रही थीं, तो उनमें मरने वाले मुसलमानों की एक बड़ी तादाद थी। जब नमक सत्याग्रह हुआ, जब सविनय अवज्ञा आंदोलन चला, या जब 'भारत छोड़ो' का नारा बुलंद हुआ, मुल्क का मुसलमान हर मोर्चे पर आगे खड़ा था। फ़्रंटियर गांधी यानी ख़ान अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ान के 'ख़ुदाई ख़िदमतगारों' ने सरहद के उन आज़ाद और जंगी क़बीलों को अदम-तशद्दुद (अहिंसा) का वो रास्ता दिखाया जिसने बर्तानवी फ़ौज की नींदें हराम कर दी थीं। उन्होंने पठानों को बंदूक छोड़कर मोहब्बत और वतन-परस्ती का रास्ता सिखाया। वो चाहते थे कि आज़ाद हिंदुस्तान एक ऐसा गुलदस्ता बने जिसमें हर फूल की अपनी महक हो। लेकिन तारीख़ की सबसे बड़ी कड़वाहट यही है कि जब यह ख्वाब अपनी ताबीर के क़रीब पहुँच रहा था, तब सियासत के कुछ ऐसे मोड़ आए जिन्होंने इस अज़ीम ख्वाब को चकनाचूर कर दिया। आज़ादी की वो सुबह जिसका इंतज़ार सालों से जेल की अंधेरी कोठरियों और फांसी के फंदों पर किया जा रहा था, वो सुबह जब आई तो अपने साथ एक ऐसी लहूलुहान लकीर लेकर आई जिसने मुल्क के साथ-साथ मुल्क के मुसलमानों को भी दो हिस्सों में चीर कर रख दिया।

आज़ादी की तहरीक में जो वादे किए गए थे, जो ख़्वाब संजोए गए थे, वो बंटवारे की नफ़रत और खून-खराबे के सैलाब में कहीं बह गए। जिन लोगों ने अपने मुल्क की आज़ादी के लिए अपनी नस्लों को तबाह कर दिया था, अचानक वो अपने ही घर में बेगाने और शक की नज़रों से देखे जाने लगे। आज़ादी मिली ज़रूर, लेकिन वो अपने साथ एक ऐसा दर्द और ऐसा माशी और नफ़्सियाती ज़ख्म लेकर आई जिसने हिंदुस्तानी मुसलमानों को एक बार फिर उसी दोराहे पर लाकर खड़ा कर दिया जहाँ से उन्होंने अठारह सौ सत्तावन में अपना सफ़र शुरू किया था।

गुज़रे हुए कल के इन चार बाज़ुओं को समेटते हुए जब हम मुड़कर देखते हैं, तो हमारी आँखों के सामने एक ऐसी क़ौम नज़र आती है जिसने अपने ज़वाल को क़बूल करने के बजाय उससे लड़ने का फैसला किया। जिसने इल्म की अहमियत को पहचाना और जिसने अपने वतन की आज़ादी के लिए अपना सब कुछ न्योछावर कर दिया। लेकिन आगे जो हुआ, वो हमारी तारीख़ का सबसे दर्दनाक और स्याह हिस्सा है। एक आज़ाद मुल्क में जहाँ उन्हें अपने ख़्वाबों की ताबीर मिलनी थी, वहाँ उन्हें आख़िर किन हक़ीक़तों का सामना करना पड़ा? आज़ादी के बाद का वो दौर, वो बंटवारे का ज़ख्म और वो सियासी और माशी गिरावट जिसने उन्हें सरकारी आंकड़ों में सबसे निचले पायदान पर ला खड़ा किया—यही वो दास्तान है जिसका जायज़ा हम इस किताब के अगले हिस्से में उन कड़वी सच्चाइयों और दस्तावेज़ों की रौशनी में लेंगे जो आज भी हमारे वजूद पर एक सवालिया निशान बनकर खड़े हैं।

“दूसरा हिस्सा: आज़ादी के बाद की हकीकत - आंकड़ों की जुबानी”

बाब 5: बंटवारे का ज़ख्म और मुसलमानों की माशी बे-वज़नी

अगस्त उन्नीस सौ सैंतालीस की वो सुबह जब मुल्क के आसमान पर आज़ादी का सूरज आखिरकार आब-ओ-ताब के साथ चमका, तो उस रोशनी में एक अजीब सा धुंधलका भी शामिल था। यह आज़ादी, जिसके लिए सदियों तक खून बहाया गया, जिसके लिए अनगिनत माओं ने अपने बेटे कुर्बान किए और जिसके लिए फांसी के फंदों को चूमा गया, वह अपने साथ मुल्क की आज़ादी तो लेकर आई, लेकिन इसी के साथ उसने इस सरज़मीन के सीने पर एक ऐसी खूनी लकीर भी खींच दी जिसने सदियों की साझा तहज़ीब को दो टुकड़ों में चीर कर रख दिया। मुल्क का यह बंटवारा सिर्फ़ ज़मीन, नदियों या सरहदों का बंटवारा नहीं था। यह दरअसल दिलों का, रिश्तों का, और सबसे बढ़कर, एक पूरी क़ौम के माशी और तालीमी मुस्तक़बिल का बंटवारा था। हिंदुस्तानी मुसलमानों के लिए यह आज़ादी एक ऐसी आज़ादी थी, जिसके जश्न में उनके अपने घरों के जलने की बू आ रही थी।

बंटवारे के इस दर्दनाक वाक़ये ने हिंदुस्तान में रुक जाने वाले मुसलमानों की ज़िंदगी में एक ऐसा भयानक माशी और नफ़्सीयाती ज़लज़ला पैदा किया, जिसके झटके आज आठ दहाईयों के बाद भी हमारी बस्तियों, हमारे कारख़ानों और हमारी तालीमी इमारतों में महसूस किए जा सकते हैं। जब हम यह कहते हैं कि मुल्क आज़ाद हुआ, तो हमें यह भी देखना होगा कि इस आज़ादी के साये में जो मुसलमान इस मुल्क में रह गए, उनकी असल हकीकत क्या थी। सरहदों के दोनों तरफ़ जो लोग गए, उनके साथ बहुत कुछ चला गया। जो ट्रेनें हिंदुस्तान से सरहद पार जा रही थीं, वो सिर्फ़ इंसानों का हुज़ूम नहीं ले जा रही थीं, बल्कि वो अपने साथ हिंदुस्तानी मुसलमानों का पढ़ा-लिखा तबका, उनका सरमाया, उनके बड़े-बड़े ताजिर, बैंक चलाने वाले, कारख़ानेदार और सरकारी अफ़सरान भी ले जा रही थीं।

जब हम बंटवारे की इस माशी बे-वज़नी यानी इकॉनोमिक इम्बैलेंस को समझते हैं, तो एक बहुत बड़ी और कड़वी हकीकत सामने आती है। सरहद पार जाने वाले ज़्यादातर लोग वो थे जिनके पास पैसा था, तालीम थी और एक मज़बूत सियासी और माशी हैसियत थी। जो लोग हिंदुस्तान में अपनी मिट्टी से मोहब्बत की खातिर रुक गए, उनमें एक बहुत बड़ी तादाद उन ग़रीब कारीगरों, बुनकरों, किसानों और मज़दूरों की थी, जिनका गुज़ारा रोज़ की मज़दूरी पर चलता था। यह वो लोग थे जिनके पास मुरादाबाद के पीतल के कारख़ानों, बनारस के लूम, सहारनपुर की लकड़ी की नक्काशी और अलीगढ़ के तालों के कारख़ानों में काम करने का हुनर तो था, लेकिन उस हुनर को बाज़ार तक पहुँचाने वाला सरमायादार और पढ़ा-लिखा तबका उन्हें अनाथ छोड़कर जा चुका था।

अचानक, एक पूरी की पूरी क़ौम अपने सरपरस्तों, अपने रहनुमाओं और अपने माशी ढांचे से महरूम हो गई। जो कारीगर कल तक किसी बड़े मुस्लिम ताजिर के कारख़ाने में काम करता था, आज़ादी के बाद उसने पाया कि कारख़ाने का मालिक तो सरहद पार चला गया और कारख़ाना दंगों की आग में जलकर राख हो गया। रातों-रात एक हुनरमंद कारीगर सड़क पर आ गया और दिहाड़ी मज़दूर बनने पर मजबूर हो गया। ग़रीबी ने उनके दरवाज़ों पर इस कदर ज़ोर से दस्तक दी कि मुस्तक़बिल की सारी मंसूबा-बंदी सिर्फ़ और सिर्फ़ दो वक़्त की रोटी के इंतज़ाम तक सिमट कर रह गई।

इसके साथ ही एक और बहुत बड़ा नफ़्सियाती बोझ उन मुसलमानों के कंधों पर डाल दिया गया जो यहीं रह गए थे। आज़ादी के फौरन बाद मुल्क में जो फ़िर्कावाराना फसाद हुए, उन्होंने मुसलमानों के दिलों में एक गहरा ख़ौफ़ पैदा कर दिया। अपनी ही ज़मीन पर, जिस मुल्क की आज़ादी के लिए उन्होंने अपना खून दिया था, उन्हें हर कदम पर अपनी वफ़ादारी का सबूत देना पड़ रहा था। इस ख़ौफ़ और शक की फ़िज़ा ने मुसलमानों को माशी तौर पर और भी ज़्यादा सिकोड़ दिया। उन्होंने बड़े कारोबार करना छोड़ दिए, वो बाज़ारों की मुख्यधारा से कटकर अपनी तंग बस्तियों और महफूज़ समझी जाने वाली गलियों में सिमट गए। जब इंसान ख़ौफ़ज़दा होता है, तो वह तरक्की के ख़्वाब नहीं देखता, बल्कि वो सिर्फ़ अपनी और अपने बच्चों की जान बचाने की जद्दोज़हद करता है। इसी जद्दोज़हद ने एक ऐसी नस्ल को जन्म दिया जिसका मक़सद आगे बढ़ना नहीं, बल्कि किसी तरह ज़िंदा रहना रह गया था।

ज़मीनों और जायदादों के छिनने का सिलसिला भी बंटवारे के फौरन बाद शुरू हो गया। कस्टोडियन क्रानून के तहत उन तमाम लोगों की जायदादें ज़ब्त कर ली गईं जिनके खानदान का कोई एक फ़र्द भी सरहद पार चला गया था। हज़ारों ऐसे परिवार जो कल तक ज़मीन के मालिक थे, वो लंबी क्रानूनी लड़ाइयों में उलझ गए और आखिरकार अपनी ही जायदादों से बेदखल कर दिए गए। उनका पुश्तैनी कारोबार ख़त्म हो गया। ऐसे में जब घर में फाके हों, जब पुलिस और निज़ाम से ख़ौफ़ हो, और जब हर तरफ से बेरोज़गारी और भुखमरी का सामना हो, तो क्या कोई बाप अपने बच्चे को तालीम देने के बारे में सोच सकता है?

यहीं से आगाज़ होता है हिंदुस्तानी मुसलमानों की तालीमी तबाही का, जो सीधे तौर पर इस माशी बे-वज़नी का ही एक अज़ाब थी। जब पेट खाली होता है तो किताबों के लफ़्ज़ नज़र नहीं आते, सिर्फ़ रोटियां नज़र आती हैं। बंटवारे के बाद की उस पहली नस्ल ने जो दर्द सहा, उसका सीधा असर उनकी आने वाली नस्लों की तालीम पर पड़ा। स्कूलों की फ़ीस चुकाना तो दूर की बात थी, बच्चों के लिए तन ढकने के कपड़े मयस्सर नहीं थे। नतीजतन, दस या बारह साल की उम्र पार करते ही बच्चों को किसी मैकेनिक की दुकान पर, किसी मोटर गैराज में, या किसी करघे पर बिठा दिया गया ताकि वो दिन के बीस-तीस रुपये कमा कर लाएं और घर का चूल्हा जल सके। यह कोई शौक नहीं था, यह ज़िंदा रहने की एक ऐसी मजबूरी थी जिसने हमारी पूरी एक नस्ल को इल्म की रोशनी से महरूम कर दिया।

अब हम इस दर्दनाक हकीकत को आज़ादी के कई दहाईयों बाद आज के दौर में देखते हैं। क्या वक़्त गुज़रने के साथ यह ज़ख्म भरा? क्या वो माशी बदहाली जो उन्नीस सौ सैंतालीस में पैदा हुई थी, वो आज के चमकते हुए हिंदुस्तान में ख़त्म हो गई? इसका जवाब हमें गली-मोहल्लों की अफ़वाहों में नहीं, बल्कि हुकूमत के अपने तैयार किए गए पक्के आंकड़ों में मिलता है। जब हम तालीम की बात करते हैं और ख़ास तौर पर आला तालीम यानी यूनिवर्सिटीज़ और कॉलेजों की बात करते हैं, तो ऑल इंडिया सर्वे ऑन हायर एजुकेशन की रिपोर्ट हमारे सामने एक ऐसा खौफनाक और दिल चीर देने वाला आईना पेश करती है जिसे देखकर कोई भी फिक्रमंद इंसान रो पड़े।

ऑल इंडिया सर्वे ऑन हायर एजुकेशन दरअसल सरकारी आंकड़ों का वो पुलिंदा है जो मुल्क के हर कॉलेज, हर यूनिवर्सिटी और हर तालीमी इदारे का हिसाब रखता है कि वहां कौन पढ़ रहा है, किस तबके के कितने बच्चे दाखिला ले रहे हैं और कौन बीच में ही पढ़ाई छोड़कर जा रहा है। जब हम इस सर्वे के पन्नों में मुसलमानों का मुकाम तलाश करते हैं, तो वो गरीबी, वो बेबसी और बंटवारे के बाद का वो माशी ज़वाल हमें बिल्कुल नग्न हालत में खड़ा नज़र आता है।

आंकड़े बताते हैं कि मुल्क की आबादी में तकरीबन चौदह से पंद्रह फ़ीसद हिस्सेदारी रखने वाले मुसलमानों का आला तालीम में दाखिला महज़ चार से पांच फ़ीसद के बीच सिमटा हुआ है। और हालिया रिपोर्ट तो इससे भी ज़्यादा खौफनाक हकीकत बयान करती है कि पिछले कुछ बरसों में मुसलमानों के दाखिले की दर में इज़ाफ़ा होने के बजाय गिरावट दर्ज की गई है। तालीम के मैदान में मुल्क के बाकी तमाम तबके—चाहे वो दलित हों, आदिवासी हों या पिछड़े वर्ग के लोग हों—वो सब आहिस्ता-आहिस्ता आगे बढ़ रहे हैं, उनकी तादाद यूनिवर्सिटीज़ में बढ़ रही है, लेकिन मुसलमान एक वाहिद ऐसा तबका है जो आगे बढ़ने के बजाय पीछे की तरफ खिसक रहा है।

यह सिर्फ एक नंबर या प्रतिशत का खेल नहीं है। इन आंकड़ों के पीछे उन अनगिनत नौजवानों के आंसुओं की दास्तान छुपी है, जिनके पास ज़ेहानत तो थी, जिन्होंने अपने स्कूलों में बेहतरीन नंबर भी हासिल किए, लेकिन जब कॉलेज जाने का वक़्त आया, तो उनके बाप की खाली जेब ने उनकी डिग्रियों का गला घोट दिया। एक आम मुसलमान नौजवान की ज़िंदगी को क़रीब से देखिए। जब वो बारहवीं जमात पास करता है, तो उसके सामने दो रास्ते होते हैं। एक रास्ता किसी यूनिवर्सिटी या प्रोफेशनल कोर्स की तरफ जाता है, जहाँ लाखों रुपये की फ़ीस चाहिए, हॉस्टल का खर्च चाहिए और तीन-चार साल तक बिना कमाए सिर्फ पढ़ाई करने का सब्र चाहिए। दूसरा रास्ता उसके मोहल्ले के किसी छोटे कारखाने, सिलाई मशीन या आटो-रिक्शा की तरफ जाता है, जो अगले ही दिन से उसके घर में चंद सौ रुपये की आमदनी शुरू कर सकता है।

ऑल इंडिया सर्वे ऑन हायर एजुकेशन की रिपोर्ट दरअसल उसी मजबूरी की दास्तान है जहाँ एक बाप भारी मन से अपने होनहार बेटे से कहता है कि बेटा, मैं तुम्हारी आगे की पढ़ाई का खर्च नहीं उठा सकता, अब तुम्हें मेरे साथ काम पर लगना होगा ताकि तुम्हारी छोटी बहनों की शादी हो सके और घर का किराया निकल सके। यह जो बीच में पढ़ाई छोड़ देने की शराह यानी ड्रॉप-आउट रेट है, यह मुसलमानों में सबसे ज़्यादा है। बच्चे स्कूल में दाखिला तो लेते हैं, प्राइमरी तालीम पूरी भी करते हैं, लेकिन जैसे-जैसे क्लास बढ़ती है, फ़ीस और खर्च का बोझ बढ़ता है, वैसे-वैसे मदरसों और सरकारी स्कूलों से निकले हुए यह बच्चे तालीमी निज़ाम से बाहर होकर बाल-मज़दूरी की भट्टी में झोंक दिए जाते हैं।

सर्वे की रिपोर्ट एक और भयानक तस्वीर पेश करती है। इंजीनियरिंग, मेडिकल, मैनेजमेंट और नई तकनीक से जुड़े हुए जो बड़े इंदारे हैं, जो दरअसल आज के दौर में माशी आज़ादी और कामयाबी का असल दरवाज़ा हैं, वहां मुसलमानों की तादाद आटे में नमक के बराबर भी नहीं है। जब हम मुल्क के बड़े मेडिकल कॉलेजों या इंजीनियरिंग यूनिवर्सिटीज़ के रजिस्टर खोलते हैं, तो वहां किसी असलम, किसी तारिक या किसी फातिमा का नाम ढूंढने से भी नहीं मिलता। आख़िर क्यों? क्या हमारे बच्चों में ज़ेहानत की कमी है? क्या हमारा दिमाग दूसरों से कमज़ोर है? बिल्कुल नहीं। इसकी वाहिद वजह वही माशी बे-वज़नी है जिसकी बुनियाद आज़ादी के वक़्त पड़ गई थी।

प्रोफेशनल कोर्सेज में दाखिले के लिए महज़ स्कूल पास करना काफी नहीं होता। इसके लिए महंगी कोचिंग चाहिए, भारी भरकम ट्यूशन फ़ीस चाहिए और सालों तक बिना किसी आमदनी के पढ़ाई का खर्च बर्दाश्त करने की ताक़त चाहिए। एक ऐसा तबका जो आज भी अपनी एक बड़ी आबादी के साथ मुल्क की सबसे निचली गरीबी रेखा के आस-पास ज़िंदगी गुज़ार रहा है, वो यह खर्च कैसे उठा सकता है? नतीजा यह होता है कि वो बच्चे जिनके हाथों में कंप्यूटर, स्टेथोस्कोप या बड़ी मशीनों के डिज़ाइन होने चाहिए थे, वो सड़कों के किनारे पंचर बनाते, बिरयानी के ठेले लगाते या वेल्डिंग की दुकानों पर अपनी आँखें फोड़ते हुए नज़र आते हैं।

यह आंकड़े कोई बेजान कागज़ का टुकड़ा नहीं हैं। यह एक चीख है जो बता रही है कि माशी तौर पर कमज़ोर होने का मतलब सिर्फ अच्छा खाना या अच्छा कपड़ा न मिलना नहीं होता, इसका सीधा मतलब नस्लों का बर्बाद होना होता है। जब कोई क्रौम आला तालीम से कट जाती है, तो वो सिर्फ यूनिवर्सिटी से नहीं कटती, वो उस मुल्क के पूरे निज़ाम से कट जाती है। तालीम ही वह वाहिद सीढ़ी है जो किसी भी इंसान को सरकारी दफ्तरों की कुर्सियों तक, अदालतों के जजों के मुकाम तक, और हुकूमत की पॉलिसी बनाने वाले कमरों तक पहुँचाती है। जब आला तालीम में हमारी हिस्सेदारी सिर्फ चार फ़ीसद रह जाएगी, तो ज़ाहिर है सरकारी नौकरियों, पुलिस, अदालतों और प्रशासन में भी हम नज़र नहीं आएंगे।

और यही वह ग़रीबी का दुष्चक्र है जिसमें आज का मुसलमान फंस कर रह गया है। आज़ादी के बाद सरमाया न होने की वजह से कारोबार तबाह हुए। कारोबार तबाह होने से ग़रीबी आई। ग़रीबी की वजह से बच्चों को तालीम से निकालकर मज़दूरी में धकेल दिया गया। तालीम न होने की वजह से अच्छी नौकरियां नहीं मिलीं। और अच्छी नौकरियां न मिलने की वजह से अगली नस्ल फिर से उसी ग़रीबी और मुफ़लिसी का शिकार हो गई। यह एक ऐसा घूमता हुआ पहिया है जो आज़ादी के बाद से आज तक लगातार हमें कुचलता चला जा रहा है।

इस माशी बे-वज़नी और तालीमी पसमांदगी का सबसे खौफनाक असर हमारी औरतों और बच्चियों पर पड़ा है। ऑल इंडिया सर्वे ऑन हायर एजुकेशन के आंकड़ों पर अगर हम एक और गहरी नज़र डालें, तो मुस्लिम लड़कियों की आला तालीम में हालत और भी ज़्यादा नाज़ुक और रुला देने वाली है। वैसे तो पूरे तबके में ही ग़रीबी है, लेकिन जब घर में तालीम के लिए थोड़े बहुत पैसे होते भी हैं, तो एक ग़रीब बाप उस पैसे को बेटे पर खर्च करना बेहतर समझता है, क्योंकि उसे लगता है कि बेटा कल को कमाकर घर लाएगा, जबकि बेटी को तो किसी और के घर जाना है।

इसके अलावा, आला तालीम के लिए लड़कियों को दूर-दराज़ के शहरों में भेजना पड़ता है। जिस क्रौम के दिल में हर वक्रत दंगों, फसादों और अपनी इज्जत का खौफ़ बैठा हो, वो अपनी बच्चियों को घर से दूर किसी हॉस्टल या यूनिवर्सिटी में भेजने का हौसला कैसे जुटाए? इसलिए, हमारी बहुत बड़ी तादाद में बच्चियां सिर्फ़ कुरान पढ़ने या दसवीं क्लास पास करने के बाद घर की चारदीवारी में कैद कर दी जाती हैं। उनकी ज़ेहानत, उनके ख़्वाब और उनका हुनर उन चूल्हों की राख में दबकर रह जाता है, जिन्हें वो दिन-रात फूंकती हैं। एक अनपढ़ या कम पढ़ी-लिखी मां कभी एक तालीम-याफ़्ता और मज़बूत नस्ल पैदा नहीं कर सकती। लड़कियों को तालीम से दूर रखकर दरअसल हमने अपने मुस्तक़बिल के पैरों पर कुल्हाड़ी मारी है।

हम बार-बार यह सवाल पूछते हैं कि आखिर हम इतने पीछे क्यों रह गए? हम दूसरों की साज़िशों का रोना रोते हैं, हुकूमतों को कोसते हैं और अपने हालात के लिए पूरी दुनिया को ज़िम्मेदार ठहराते हैं। हाँ, यह सच है कि सियासत ने हमारे साथ इंसान नहीं किया। यह भी सच है कि बंटवारे के बाद हमें शक की निगाह से देखा गया और जानबूझकर माथी तौर पर किनारे कर दिया गया। लेकिन यह हक़ीक़त भी उतनी ही सच्ची है कि हमने खुद भी इस हालात से निकलने की वैसी कोशिश नहीं की जैसी एक ज़िंदा क्रौम को करनी चाहिए थी। हमने तालीम को सिर्फ़ एक दुनियावी और फ़िज़ूल चीज़ समझकर छोड़ दिया। हमने अपने बच्चों के मुस्तक़बिल की कुर्बानी अपनी आज की छोटी सी ज़रूरत के लिए दे दी।

ऑल इंडिया सर्वे ऑन हायर एजुकेशन के यह आंकड़े दरअसल हमारे उसी माज़ी का आईना हैं जिसे हमने अपने हाथों से गंदा किया है। जब एक मज़दूर बाप अपनी पाई-पाई जोड़कर अपने बच्चे को किसी बड़े कॉलेज में भेजता है, तो वो सिर्फ़ एक बच्चे को तालीम नहीं दे रहा होता, बल्कि वो अपने पूरे खानदान की ग़रीबी की ज़ंजीरें काट रहा होता है। लेकिन अफ़सोस कि ऐसी मिसालें हमारी बस्तियों में बहुत कम नज़र आती हैं।

यह कोई मज़हबी मसला नहीं है, यह खालिस एक माशी और नफ़्सियाती मसला है। जो खौफ़ अठारह सौ सत्तावन के बाद पैदा हुआ था, उसी खौफ़ ने उन्नीस सौ सैंतालीस के बंटवारे के बाद एक और भयानक शक्ल इख्तियार कर ली। बंटवारे का ज़ख्म सिर्फ़ उन लोगों के सीनों पर नहीं है जिन्होंने अपना घर छोड़ा, बल्कि यह ज़ख्म उन अवाम के सीनों पर ज़्यादा गहरा है जो यहीं रुक गए। क्योंकि जो चले गए, उन्होंने वहाँ जाकर एक नई दुनिया बसा ली, लेकिन जो यहाँ रुक गए, उन्हें अपनी वफ़ादारी, अपने वजूद और अपनी माशी आज़ादी की लड़ाई हर रोज़ लड़नी पड़ी।

आज जब हम आला तालीम की इन रिपोर्टों को देखते हैं, तो वो सिर्फ़ यह नहीं बताती कि कितने बच्चों ने दाखिला लिया। वो दरअसल यह बताती हैं कि कितने बच्चों के ख़्वाबों का क़त्ल कर दिया गया। जब सर्वे यह कहता है कि मुसलमानों की हिस्सेदारी घट रही है, तो इसका सीधा सा मतलब यह है कि हमारी आने वाली नस्ल और भी ज़्यादा बेरोज़गार, और भी ज़्यादा ग़रीब और और भी ज़्यादा पिछड़ी हुई होगी। बिना आला तालीम के इस नई दुनिया में गुज़ारा मुमकिन ही नहीं है। आज दुनिया आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस, कंप्यूटर साइंस और जदीद तकनीक पर चल रही है। अगर हमारे पास वो डिग्रियां और वो इल्म नहीं होगा, तो हम इस मुल्क की इकॉनमी में सिर्फ़ एक बोझ बनकर रह जाएंगे—वो मज़दूर जिन्हें कोई भी चंद रुपयों में खरीद सकता है, या वो हुजूम जिसका इस्तेमाल सिर्फ़ सियासी रैलियों में भीड़ बढ़ाने के लिए किया जाता है।

यह बाब सिर्फ़ हमें हमारा दर्द याद दिलाने के लिए नहीं है, बल्कि यह एक अलार्म है, खतरे की वो घंटी है जिसे अगर हमने आज नहीं सुना, तो आने वाले कल में हमारी दास्तान सुनने वाला कोई नहीं बचेगा। बंटवारे का जो ज़ख्म हमारी माशी बे-वज़नी की शक्ल में शुरू हुआ था, उसने आज आला तालीम में हमारी नाकामी की शक्ल अख्तियार कर ली है। हमें यह समझना होगा कि इस ग़रीबी का, इस मज़दूरी का और इस पसमांदगी का वाहिद इलाज वो तालीमी इदारे हैं जिनके दरवाज़ों से हम आज भी बहुत दूर खड़े हैं।

जब तक हम अपनी आधी रोटी खाकर अपने बच्चों को आला तालीम दिलाने का वो जज़्बा पैदा नहीं करेंगे, जो जज़्बा सर सैयद अहमद खान ने जगाने की कोशिश की थी, तब तक सरकारी कागज़ों में, सर्वे की रिपोर्टों में और हकीकत की दुनिया में हमारी तस्वीर इसी तरह धुंधली और दर्दनाक बनी रहेगी। इन आंकड़ों को बदलना सिर्फ हुकूमत की ज़िम्मेदारी नहीं है, यह हमारी अपनी बक्का की जंग है। एक ऐसी जंग जिसे सड़कों पर नहीं, बल्कि स्कूलों, कॉलेजों और यूनिवर्सिटीज़ की चौखटों पर लड़ा जाना है।

और यही माशी बे-वज़नी, जो आला तालीम के आंकड़ों में बेपर्दा होती है, आगे चलकर एक और भयानक रूप लेती है। जब तालीम नहीं मिलती, तो अच्छी नौकरियां नहीं मिलतीं, और जब नौकरियाँ नहीं मिलतीं, तो मुल्क की बड़ी सनअतों और सरकारी निज़ाम से हमारा वजूद पूरी तरह मिटने लगता है। इसी कड़वी और दिल दहला देने वाली हकीकत का पर्दाफाश हम अगले बाब में करेंगे, जहाँ हम देखेंगे कि आज़ादी के बाद सरकारी रोज़गार और बड़ी सनअतों में किस तरह मुसलमानों की हिस्सेदारी एक ढलान का सफर तय करती चली गई, और किस तरह एक आम नौजवान के लिए सरकारी नौकरी का ख़्वाब एक ना-मुमकिन सरब बन गया।

बाब 6: सरकारी रोज़गार और बड़ी सनअतों में मुसलमानों की गिरती हिस्सेदारी

ज़िंदगी गुज़ारने के लिए इंसान को सिर्फ़ सांसों की ज़रूरत नहीं होती, बल्कि उसे उस वक़्ार और इज़ज़त की भी ज़रूरत होती है जो एक आज़ाद और खुशहाल मुल्क अपने शहरियों को रोज़गार की शक्ल में देता है। किसी भी घर में जब कोई नौजवान पढ़-लिख कर पहली बार अपने हाथों से कमा कर कुछ रुपये अपनी माँ के हाथों पर रखता है, तो वह महज़ कागज़ के टुकड़े नहीं होते, बल्कि वह उस पूरे खानदान की बरसों की तपस्या, उनके फाकों और उनके टूटे हुए ख्वाबों का सिला होते हैं। लेकिन आज़ादी के बाद हिंदुस्तानी मुसलमानों के घरों में यह खुशी, यह सिला और यह इज़ज़त आहिस्ता-आहिस्ता एक ना-मुमकिन ख्वाब में तब्दील हो गई।

जब हम सरकारी नौकरियों और बड़ी सनअतों (इंडस्ट्रीज़) में मुसलमानों की हिस्सेदारी का जायज़ा लेते हैं, तो ऐसा लगता है जैसे हम किसी ऐसे क़ब्रिस्तान से गुज़र रहे हों जहाँ हमारी क़ौम के नौजवानों की सलाहियतों, उनके हुनर और उनकी डिग्रियों को ज़िंदा दफ़न कर दिया गया हो। यह कोई जज़्बाती बात नहीं है। जब हम सरकारी दस्तावेज़ों और सर्वे की रिपोर्टों के पन्ने पलटते हैं, तो उन पर छपे हुए आंकड़े चीख-चीख कर एक ऐसी भयानक हक़ीक़त बयान करते हैं जिसे सुनकर किसी भी बा-ज़मीर इंसान की नींदें हराम हो जाएं।

पिछले बाब में हमने तालीम से जुड़े जिन खौफनाक आंकड़ों का ज़िक्र किया था, उनका सीधा और सबसे ज़हरीला असर हमारे रोज़गार पर पड़ता है। यह एक सीधा सा उसूल है कि जब कोई क़ौम आला तालीम के मैदान से बाहर हो जाती है, तो मुल्क के बड़े दफ़्तरों, हुकूमत की कुर्सियों और बड़े कारख़ानों के दरवाज़े उसके लिए खुद-ब-खुद बंद हो जाते हैं। ऑल इंडिया सर्वे ऑन हायर एजुकेशन की रिपोर्ट में हमने देखा कि किस तरह हमारे नौजवान यूनिवर्सिटीज़ तक पहुँचने से पहले ही दम तोड़ देते हैं। अब ज़रा सोचिए, जो लड़का बारहवीं जमात के बाद पढ़ाई छोड़कर किसी गैराज में पेंचर बनाने लगा हो, क्या वह कभी मुल्क के बड़े सरकारी दफ़्तरों या बड़ी कंपनियों में कोई ओहदा पा सकता है? बिल्कुल नहीं।

तालीमी पसमांदगी दरअसल बेरोज़गारी की वह गहरी खाई है जिसे हमने अपने ही हाथों से खोदा है और सियासत ने हमें उसी में धकेल दिया है।

सरकारी नौकरी सिर्फ चंद हज़ार रुपयों की तनख्वाह का नाम नहीं होती। सरकारी नौकरी दरअसल हुकूमत के निज़ाम में आपकी हिस्सेदारी, आपकी ताक़त और आपके वजूद का सुबूत होती है। जब किसी क़ौम के लोग पुलिस में, प्रशासन में, रेलवे में और अदालतों में होते हैं, तो उस क़ौम को यह एहसास होता है कि यह मुल्क और यह निज़ाम उनका अपना है। लेकिन आज़ादी के बाद मुसलमानों के साथ जो सुलूक हुआ, उसने उन्हें इस निज़ाम से पूरी तरह बेदखल कर दिया। सच्चर कमेटी और दीगर सरकारी कमेटियों की रिपोर्टें जब मंज़रे-आम पर आईं, तो मुल्क के सामने एक ऐसी सच्चाई बेपर्दा हुई जिसने आज़ादी और बराबरी के तमाम दावों की धज्जियां उड़ा कर रख दीं।

मुल्क की आबादी में चौदह से पंद्रह फ़ीसद हिस्सेदारी रखने वाला मुसलमान, सरकारी नौकरियों में महज़ दो या तीन फ़ीसद पर सिमट कर रह गया है। यह आंकड़ा कोई मामूली बात नहीं है। यह इस बात का सुबूत है कि हमने एक पूरी की पूरी आबादी को मुल्क की तरक्की के पहिए से काटकर अलग फेंक दिया है। आप पुलिस महकमे को ही ले लीजिए। पुलिस अवाम के तहफ़फ़ुज़ (सुरक्षा) का सबसे बड़ा ज़रिया होती है। लेकिन जब किसी पुलिस स्टेशन में मुसलमानों की तादाद न के बराबर हो, तो वहां जाने वाला एक आम और ग़रीब मुसलमान खुद को महफूज़ महसूस करने के बजाय ख़ौफ़ज़दा महसूस करता है। उसे लगता है कि निज़ाम उसकी बात नहीं सुनेगा। आंकड़े बताते हैं कि पुलिस और सुरक्षा बलों में मुसलमानों की हिस्सेदारी चार फ़ीसद से भी कम है। यही वजह है कि जब भी बस्तियों में कोई मसला होता है, तो निज़ाम और अवाम के बीच भरोसे की वह डोर कहीं नज़र नहीं आती जो एक आज़ाद मुल्क में होनी चाहिए।

शासन यानी बड़े अफसरों की बात करें, जो मुल्क की नीतियां बनाते हैं, जो यह तय करते हैं कि किस इलाके में कितने स्कूल बनेंगे, कहाँ अस्पताल बनेंगे और कौन सी योजनाएं लागू होंगी, वहां तो सन्नाटा और भी गहरा है। आई.ए.एस और पी.सी.एस जैसे आला ओहदों पर मुसलमानों की तादाद तीन फ़ीसद के आस-पास रेंग रही है। जब हुकूमत के उन कमरों में जहाँ फैसले लिए जाते हैं, हमारी क्रौम का कोई नुमाइंदा मौजूद ही नहीं होगा, तो क्या हमारी बस्तियों के दर्द को कोई समझेगा? क्या कोई यह सोचेगा कि हमारी तंग गलियों में सीवर का पानी क्यों भरा है? क्या कोई यह आवाज़ उठाएगा कि हमारे मोहल्लों में लड़कियों के लिए स्कूल क्यों नहीं हैं? जब कुर्सी पर आपका कोई अपना नहीं होता, तो आपकी फाइलें सिर्फ धूल फांकती हैं, और यही आज हिंदुस्तानी मुसलमानों की सबसे बड़ी सियासी और माथी हकीकत है।

रेलवे, जो इस मुल्क में सबसे ज़्यादा रोज़गार देने वाला इदारा है, वहां की हालत भी रूला देने वाली है। आज्ञादी से पहले रेलवे के अहम ओहदों पर मुसलमानों की एक अच्छी खासी तादाद हुआ करती थी। लेकिन आज जब आप किसी रेलवे स्टेशन से गुज़रते हैं, तो आपको झाड़ू लगाते हुए या कुली का काम करते हुए तो बहुत से मुसलमान नज़र आ जाएंगे, लेकिन स्टेशन मास्टर के कमरे में या टिकट क्लर्क की कुर्सी पर आपको किसी मुसलमान को ढूंढने के लिए चिराग़ लेकर निकलना पड़ेगा। यहाँ हिस्सेदारी साढ़े चार फ़ीसद से भी कम है।

इस दर्द को महज़ आंकड़ों से नहीं समझा जा सकता। इसे समझने के लिए आपको उस बूढ़े बाप की आँखों में देखना होगा जिसने अपना पुश्तैनी मकान गिरवी रखकर अपने बेटे को शहर भेजा ताकि वह सरकारी नौकरी की तैयारी कर सके। वो लड़का सालों तक एक छोटे से कमरे में दिन-रात किताबें चाटता है। जब वह इंटरव्यू के लिए जाता है, तो उसके पास डिग्रियां भी होती हैं और सलाहियत भी। लेकिन जब नतीजे आते हैं, तो लिस्ट में उसका नाम नहीं होता। ऐसा एक बार नहीं, बार-बार होता है। यहाँ हम यह नहीं कह रहे कि हर नाकामी साज़िश का नतीजा है, लेकिन जब यह नाकामी एक पूरी क्रौम का मुकद्दर बन जाए, जब लाखों नौजवानों में से सिर्फ़ चंद लोग ही पास हो पाएं, तो निज़ाम की नीयत पर शक होना एक बहुत फितरी सी बात है।

वह लड़का जब हार कर वापस अपने मोहल्ले में लौटता है, तो वह सिर्फ एक बेरोज़गार नहीं होता, बल्कि वह अपने साथ अपनी आने वाली नस्लों की मायूसी भी लेकर लौटता है। वह दूसरों से कहता है, “पढ़ने से कुछ नहीं होता, हमें नौकरी नहीं मिलेगी।” और यही वह ज़हर है जिसने हमारी पूरी क़ौम के अंदर एक नफ़्सियाती हार का बीज बो दिया है।

अब बात करते हैं मुल्क की बड़ी सनअतों और कॉर्पोरेट सेक्टर की। यह वो सेक्टर है जिसने पिछले कुछ दहाईयों में मुल्क की तस्वीर बदल कर रख दी है। टाटा, बिड़ला, रिलायंस और बड़ी आई.टी कंपनियों ने रोज़गार के लाखों दरवाज़े खोले हैं। हुकूमत का कहना है कि अगर सरकारी नौकरी नहीं है, तो प्राइवेट सेक्टर में काम तलाश करो। लेकिन क्या यहाँ मुसलमानों के लिए रास्ता आसान है? हकीक़त यह है कि यहाँ की दीवारें सरकारी दफ़्तरों से भी ज़्यादा ऊंची और मज़बूत हैं।

निजी क्षेत्र में नौकरी अक्सर पहचान, संपर्कों और सामाजिक हैसियत की बुनियाद पर मिलती है। इसे सोशल कैपिटल कहा जाता है। आज़ादी के बाद से लगातार ग़रीबी और मुफ़लिसी झेल रही क़ौम के पास यह सोशल कैपिटल है ही नहीं। किसी बड़ी कंपनी में अगर किसी ऊंचे ओहदे पर कोई जगह खाली होती है, तो वहां तक पहुँचने के लिए जिस सिफारिश और जिन रसूख की ज़रूरत होती है, वह हमारे नौजवानों के पास नहीं होते।

लेकिन बात सिर्फ सिफारिश की नहीं है; बात उस छुपे हुए तअस्सुब (पूर्वाग्रह) की भी है जो आज हमारे समाज की रग-रग में फैल चुका है। जब किसी बड़ी कंपनी के एच.आर (ह्यूमन रिसोर्स) मैनेजर के मेज़ पर कई बायोडाटा आते हैं, तो यह एक कड़वी सच्चाई है कि मुसलिम नामों वाले बायोडाटा को अक्सर एक अलग नज़र से देखा जाता है। कई तहक़ीक़ात और सर्वे इस बात को साबित कर चुके हैं कि अगर एक ही जैसी काबिलीयत और डिग्रियों वाले दो बायोडाटा भेजे जाएं, जिनमें से एक नाम किसी मुसलमान का हो और दूसरा किसी और मज़हब का, तो मुसलिम नाम वाले उम्मीदवार को इंटरव्यू के लिए बुलाए जाने की गुंजाइश बाकियों के मुक़ाबले बहुत कम होती है।

यह कोई हवा-हवाई बात नहीं है, यह उन नौजवानों का रोज़ का दर्द है जो अपनी पहचान की वजह से हर दिन ज़लील होते हैं। ज़रा उस नौजवान की कैफ़ियत महसूस कीजिए जिसने अपनी रातें जाग कर इंजीनियरिंग की तालीम मुकम्मल की हो, जो कंप्यूटर की स्क्रीन के सामने अपनी आँखें फोड़ता रहा हो, लेकिन जब वह नौकरी के लिए शहर जाता है, तो उसे सिर्फ़ अपने नाम और अपनी शक्ल की वजह से पीछे धकेल दिया जाता है। यहाँ तक कि उसे किराए पर एक अच्छा मकान तक मयस्सर नहीं होता। जिस नौजवान को अपना घर का पता बताते हुए डर लगे, वो किसी बड़ी कंपनी में लीडरशिप का ख़्वाब कैसे देख सकता है?

इन बड़ी सनअतों का निज़ाम इतना क्रूर है कि वह आपके हुनर को तब तक नहीं पहचानता, जब तक आप उनके तय किए हुए सांचे में पूरी तरह फिट न बैठ जाएं। हमारी क्रौम के जो हुनरमंद हाथ थे, जो दस्तकार थे, वो इस कॉर्पोरेट निज़ाम का हिस्सा कभी बन ही नहीं पाए। बनारस का वो जुलाहा जो रेशम के धागों से दुनिया की सबसे खूबसूरत साड़ियाँ बुनता था, जब पावरलूम और बड़ी टेक्सटाइल कंपनियों का दौर आया, तो वह उनके साथ क़दम नहीं मिला सका। क्यों? क्योंकि उसके पास न तो डिग्रियाँ थीं और न ही मशीनों को लगाने का सरमाया। नतीजा यह हुआ कि बड़ी कंपनियों ने बाज़ार पर कब्ज़ा कर लिया और हमारा वह हुनरमंद दस्तकार अपनी ही मशीन पर मज़दूर बन कर रह गया। मुरादाबाद के पीतल के कारीगरों से लेकर भदोही के कालीन बुनने वालों तक, सब की यही कहानी है। उनके हुनर का सारा मुनाफ़ा बड़ी कंपनियाँ और बिचौलिए खा गए, और उनके हिस्से में सिर्फ़ टी.बी. की बीमारी, धुएँ से भरी घुटन और फाके आए।

रोज़गार से महरूम होने का यह जो घाव है, इसने हमारी बस्तियों का पूरा नक़्शा बदल कर रख दिया है। जब किसी क्रौम के पास कोई यकीनी आमदनी नहीं होती, जब उसे पता होता है कि चाहे कितनी भी डिग्रियाँ ले लें, कोई अच्छी नौकरी उनका इंतज़ार नहीं कर रही है, तो उनके पास सिर्फ़ एक ही रास्ता बचता है—दिहाड़ी मज़दूरी या छोटे-मोटे फुटपाथ के कारोबार। यही वजह है कि आज आप मुल्क के किसी भी शहर की आज़ाद और मुस्लिम बस्तियों में चले जाएं, आपको हर गली में मोटरसाइकिल रिपेयरिंग की दुकानें, लोहे की वेल्डिंग का काम, टेलरिंग, या सब्ज़ी के ठेले मिल जाएंगे। हम यह नहीं कहते कि कोई काम छोटा या बड़ा होता है।

मेहनत की रोटी कमाना यकीनन एक इज़्ज़त का काम है। लेकिन जब एक पूरी की पूरी क़ौम सिर्फ़ इन्हीं निचले दर्जे के कामों में सिमट कर रह जाए, जब उनके हिस्से में कोई डॉक्टर, कोई बड़ा इंजीनियर, कोई आई.ए.एस या कोई बड़ा सनअतकार न आए, तो यह उस क़ौम की मौत की निशानी है।

इस गिरती हुई हिस्सेदारी ने हमारे समाज में एक और भयानक बुराई को जन्म दिया है, और वह है नौजवानों में बढ़ती हुई ना-उम्मीदी और जुर्म की दुनिया की तरफ़ झुकाव। खाली दिमाग़ शैतान का घर होता है, यह कहावत हमने सदियों से सुनी है। जब एक जवान लड़के के पास सुबह उठकर जाने के लिए कोई दफ़्तर नहीं होता, जब उसकी जेब खाली होती है, और जब उसे अपनी माँ की दवा और बहनों की ज़रूरतें पूरी करने के रास्ते बंद नज़र आते हैं, तो वह मायूसी के उस अंधरे में डूबने लगता है जहाँ से ग़लत रास्ते शुरू होते हैं। यह हमारी हुकूमतों और हमारे समाज दोनों के मुँह पर एक बहुत बड़ा तमाचा है कि हमारे नौजवान यूनिवर्सिटीज़ और दफ़्तरों के मुकाबले जेलों में ज़्यादा तादाद में बंद हैं। उन्हें मुज़रिम किसने बनाया? क्या वह पैदाइशी मुज़रिम थे? नहीं, उन्हें मुज़रिम बनाया इस बे-हिस निज़ाम की उस बेरोज़गारी ने, जिसने उनके हुनर को इस्तेमाल करने के बजाय उन्हें सड़कों पर धक्के खाने के लिए छोड़ दिया।

हमें इस बात का गहराई से मुतालिबा करना होगा कि क्या हम सिर्फ़ शिकवा करके अपनी ज़िम्मेदारी से बच सकते हैं? सच तो यह है कि कहीं न कहीं हमारी अपनी ग़फ़लत भी इस बर्बादी की ज़िम्मेदार है। हमने बदलते हुए वक़्त की आवाज़ को नहीं सुना। जब दुनिया कंप्यूटर और इंटरनेट की तरफ़ भाग रही थी, तब हम अपने उन्हीं पुराने रुढ़िवादी ख्यालों और छोटे-मोटे पेशों से चिपके रहे। हमने अपने बच्चों को डिग्रियां तो दिलवा दीं, लेकिन उन्हें वह हुनर (स्किल्स) नहीं दिए जिनकी आज के बाज़ार को ज़रूरत है। हम आज भी रटी-रटाई तालीम के पीछे भाग रहे हैं, जबकि कॉर्पोरेट दुनिया कम्प्युनिकेशन स्किल्स, लीडरशिप और जदीद टेक्नोलॉजी की मांग करती है। जब तक हमारा नौजवान आज के दौर की नई ज़बान और नई तकनीक नहीं सीखेगा, वह बड़ी सनअतों के इस बेरहम समंदर में डूब जाएगा।

ज़मीनी हकीकत यह है कि मुसलमानों का एक बहुत बड़ा तबका आज भी इस मुग़ालते में जी रहा है कि अल्लाह ने उन्हें जिस हाल में रखा है, वही उनकी किस्मत है। किस्मत का रोना रोकर हमने अपनी जद्दोज़हद को मार दिया है। हम यह भूल गए हैं कि अल्लाह भी उसी क़ौम की हालत बदलता है जिसे खुद अपनी हालत बदलने का ख्याल हो। सरकारी नौकरी और बड़ी सनअतों में हिस्सेदारी मांगने के लिए हमें सड़कों पर नारे लगाने की ज़रूरत नहीं है, बल्कि हमें अपने घरों के अंदर तालीम और हुनर का इंकलाब लाने की ज़रूरत है।

अगर हम आज भी नहीं जागे, अगर हमने आज भी इन गिरते हुए आंकड़ों को खतरे की घंटी नहीं माना, तो वह दिन दूर नहीं जब हम इस मुल्क की तरक्की के नक्शे से पूरी तरह मिट जाएंगे। हमारी हैसियत सिर्फ़ उन मज़दूरों की रह जाएगी जो दूसरों के महल तो बनाते हैं, लेकिन खुद ताउम्र किराए के टूटे हुए मकानों में ज़िंदगी गुज़ार देते हैं।

इस बाब के आखिर में, मैं आपसे एक सवाल पूछना चाहता हूँ। जब आप रात को अपनी बस्तियों में लौटते हैं और नुक्कड़ पर बैठे हुए दर्जनों नौजवानों को बिना किसी काम के अपना वक़््त बर्बाद करते हुए देखते हैं, तो क्या आपके दिल में दर्द नहीं उठता? वह नौजवान, जिनकी रगों में एक आज़ाद और ज़िंदा क़ौम का खून होना चाहिए था, वह सिर्फ़ इसलिए अपनी जवानी बर्बाद कर रहे हैं क्योंकि निज़ाम ने उनके लिए दरवाज़े बंद कर दिए हैं और हमने उन्हें उन दरवाज़ों को तोड़ने का हुनर नहीं सिखाया। ज़गार से यह दूरी, सरकारी दफ़्तरों से यह बेदखली और सनअतों में यह नाकामी—यह कोई छोटा मसला नहीं है। यह हमारे वजूद पर एक सवालिया निशान है। यह हकीकत हमें यह सोचने पर मजबूर करती है कि आखिर वह तालीमी पसमांदगी, जिसके बारे में हमने बात की थी, उसने हमारे जड़ों को कितना खोखला कर दिया है। हमारी तालीम का यह ज़वाल, जिसमें हमारी अपनी ग़लतियाँ और ज़मीनी हकीकत दोनों शामिल हैं, किस कदर भयानक शक्ल अख्तियार कर चुका है, यही वह दर्दनाक पहलू है जिसकी गहराई में हम अगले बाब में उतरेंगे। वहाँ हम देखेंगे कि तालीमी पसमांदगी के असल अस्बाब क्या हैं, हमने कहाँ ग़लतियाँ कीं, और ज़मीनी हकीकत का वो कड़वा घूंट क्या है जिसे पिए बिना हम कभी तरक्की की राह पर वापस नहीं आ सकते।

बाब 7: तालीमी पसमांदगी: अस्बाब, ग़लतियां और ज़मीनी हक़ीक़त

तालीम महज़ किताबें पढ़ने या डिग्रियां हासिल करने का नाम नहीं है। यह इंसान के ज़हन में वो रौशनी पैदा करती है जो उसे अपनी हैसियत, अपने हुकूक़ और अपने मुस्तक़बिल को पहचानने की ताक़त देती है। जब किसी क्रौम के हाथों से इल्म की यह मशाल छूट जाती है, तो वह सिर्फ़ अंधेरे में नहीं गिरती, बल्कि वह गुलामी, मुफ़लिसी और ज़लालत की उस गहरी खाई में जा गिरती है जहाँ से बाहर आने के रास्ते सदियों तक बंद हो जाते हैं। हिंदुस्तानी मुसलमानों की तालीमी पसमांदगी महज़ एक इत्तेफ़ाक़ नहीं है, बल्कि यह उन अस्बाब, हमारी अपनी कोताहियों और उन कड़वी ज़मीनी हक़ीक़तों का एक ऐसा भयानक गठजोड़ है जिसने हमारी नस्लों के ख़्वाबों को उनके बचपन में ही दफ़न कर दिया।

अगर हमें इस दर्द को समझना है, तो कुछ पल के लिए उन भारी-भरकम सरकारी फाइलों से बाहर निकलकर अपनी बस्तियों की तंग और सीलन भरी गलियों में चलना होगा। ज़रा तसव्वुर कीजिए उस दिन का जब दसवीं या बारहवीं जमात का नतीजा आता है। एक ग़रीब मुसलमान के घर में जब उसका बेटा या बेटी अच्छे नंबरों से पास होती है, तो उस घर में खुशी से ज़्यादा एक खौफ़नाक सन्नाटा छा जाता है। वो बूढ़ा बाप, जो दिन भर रिक्शा चलाकर या किसी कारख़ाने में पसीना बहाकर चंद रुपये घर लाता है, वो अपने होनहार बच्चे की मार्कशीट देखकर रो पड़ता है। उसकी आँखों में यह आँसू खुशी के नहीं होते, बल्कि उस बेबसी के होते हैं कि अब कल से जब यह बच्चा कॉलेज की फ़ीस मांगेगा, तो वो पैसा कहाँ से आएगा? क्या वो अपने घर के बर्तन बेच दे? क्या वो अपनी बीवी के आखिरी ज़ेवर गिरवी रख दे? और जब कोई रास्ता नहीं बचता, तो वो मार्कशीट किसी पुरानी संदूक में दफ़न कर दी जाती है और उस होनहार बच्चे के हाथों में क़लम की जगह किसी गैराज के औज़ार या किसी कारख़ाने की मशीन पकड़ा दी जाती है। यही वो ज़मीनी हक़ीक़त है जो हमारे तालीमी ज़वाल की सबसे बड़ी वजह है। जब पेट की आग बुझाना ही ज़िंदगी का सबसे बड़ा मक़सद बन जाए, तो तालीम एक ऐसा महंगा शौक़ बन जाती है जिसे ग़रीब इंसान अफ़ोर्ड नहीं कर सकता।

गरीबी और तालीमी पसमांदगी एक दूसरे के साथ इस कदर जुड़े हुए हैं जैसे जिस्म के साथ परछाई। आज़ादी के बाद हमने जिस माशी तबाही का ज़िक्र पिछले बाबों में किया है, उसी तबाही ने हमारी तालीम की जड़ों में तेज़ाब डालने का काम किया है।

जब हम इन आंसुओं और इन टूटे हुए ख्वाबों को सरकारी पैमानों पर तौलते हैं, तो ऑल इंडिया सर्वे ऑन हायर एजुकेशन की रिपोर्टें हमारे सामने आती हैं। यह रिपोर्टें कोई मामूली कागज़ नहीं हैं; यह मुल्क की तालीमी सेहत का एक्स-रे हैं। और जब इस एक्स-रे में मुसलमानों की हैसियत देखी जाती है, तो तस्वीर इतनी भयानक है कि रूह कांप जाए। ताज़ा आंकड़े बताते हैं कि मुल्क की आला तालीम यानी यूनिवर्सिटीज़ और कॉलेजों में मुसलमानों की नुमाइंदगी महज़ साढ़े चार से पांच फ़ीसद के बीच सिमट कर रह गई है। ज़रा सोचिए! जिस मुल्क में मुसलमानों की आबादी पंद्रह फ़ीसद के करीब है, वहां आला तालीम में उनके बच्चों की तादाद सिर्फ साढ़े चार फ़ीसद है।

इसे एक मिसाल से समझिए। अगर किसी बड़ी यूनिवर्सिटी के दरवाज़े से सौ बच्चे अंदर जा रहे हैं, तो उनमें से बमुश्किल चार या पांच बच्चे ही मुसलमान होते हैं। बाकी पचानवे बच्चे मुल्क के दीगर तबकों से ताल्लुक रखते हैं। सबसे ज़्यादा तकलीफ़देह बात यह है कि इसी सर्वे की गुज़िश्ता कुछ सालों की रिपोर्टों का अगर हम मुवाज़ना करें, तो यह साफ़ नज़र आता है कि जहां एक तरफ़ दलित, आदिवासी और पिछड़े तबके के बच्चे तालीम के मैदान में तेज़ी से आगे बढ़ रहे हैं, वहीं मुसलमान नौजवानों की तादाद बढ़ने के बजाय नीचे की तरफ़ गिर रही है। आखिर क्यों? आखिर वो कौन सी बेड़ियां हैं जो हमारे नौजवानों के पैरों में बंध गई हैं?

इसका सबसे बड़ा सबब ड्रॉप-आउट रेट, यानी बीच में ही पढ़ाई छोड़ देने की मजबूरी है। प्राइमरी स्कूलों तक तो हमारे बच्चे जैसे-तैसे पहुँच जाते हैं। लेकिन जैसे ही वो छठी, सातवीं या आठवीं जमात में पहुँचते हैं, पढ़ाई का खर्च बढ़ने लगता है। किताबें महंगी हो जाती हैं, ट्यूशन की ज़रूरत पड़ने लगती हैं।

और स्कूल की फ़ीस का बोझ उस बाप की कमर तोड़ देता है जिसकी आमदनी बरसों से एक ही जगह रुकी हुई है। सर्वे बताता है कि मुसलमानों में पढ़ाई बीच में छोड़ने की दर मुल्क में सबसे ज़्यादा है।

लेकिन क्या इस तबाही के लिए सिर्फ़ ग़रीबी या हुकूमत की नीतियां ही ज़िम्मेदार हैं? यहीं पर हमें बहुत ही कड़वाहट के साथ अपनी गिरेबान में भी झांकना होगा। हमें अपनी उन ग़लतियों को तस्लीम करना होगा जो हमने एक क्रौम की हैसियत से की हैं।

हमारी सबसे बड़ी ग़लती यह रही कि हमने तालीम को दो अलग-अलग और एक-दूसरे के विरोधी खानों में बांट दिया—दीनी तालीम और दुनियावी (अस्सी) तालीम। आज़ादी के बाद मुसलमानों के एक बड़े तबके ने यह मान लिया कि दुनियावी तालीम सिर्फ़ पैसा कमाने का ज़रिया है और इसका दीन से कोई लेना-देना नहीं है। सर सैयद अहमद खान ने जिस बात के लिए अपनी पूरी ज़िंदगी दांव पर लगा दी थी, हमने उसी पैग़ाम को भुला दिया। हमने अपने मोहल्लों में शानदार मस्जिदें तो बनाई, उनमें कीमती पत्थर तो लगवाए, लेकिन उन मस्जिदों के आंगनों में हमने लाइब्रेरी या स्कूल बनाने की फ़िक्र कभी नहीं की। हमने मदरसों को तो चंदे दिए, जो कि यक़ीनन हमारी दीनी बक्रा के लिए ज़रूरी थे, लेकिन हमने कभी यह नहीं सोचा कि अगर हमारा बच्चा डॉक्टर, इंजीनियर या अफसर नहीं बनेगा, तो हमारी इस दुनिया में क्या हैसियत रह जाएगी?

ज़रा अपने इर्द-गिर्द नज़र दौड़ाइए। मुल्क के दूसरे तबकों ने अपने समाज के पैसों से बड़े-बड़े ट्रस्ट बनाए, शानदार कॉलेज खड़े किए, मेडिकल और इंजीनियरिंग इदारे बनाए। सिख समाज को देखिए, ईसाई समाज को देखिए, उन्होंने अपने स्कूलों और अस्पतालों का एक ऐसा जाल बिछा दिया है जो उनकी क्रौम के साथ-साथ पूरे मुल्क की खिदमत कर रहा है। इसके मुक़ाबले में हमने क्या किया? हमने अपनी सारी ताक़त और अपना सारा सरमाया सिर्फ़ अपने अंदरूनी फ़िर्कावाराना इख़्तेलाफ़ात (मतभेदों) में लगा दिया। हम इसी बात पर उलझते रहे कि कौन सही है और कौन ग़लत, लेकिन हमने यह नहीं देखा कि हमारा नौजवान अज्ञानता की आग में जल रहा है।

हमने अपनी ज़कात और खैरात का एक बहुत बड़ा हिस्सा यतीमखानों और मदरसों को तो दिया, लेकिन हमने कभी ऐसा कोई बड़ा क़ौमी फंड नहीं बनाया जो किसी होनहार मगर ग़रीब मुस्लिम नौजवान की मेडिकल या इंजीनियरिंग की फ़ीस भर सके। यह हमारी वो मुजरिमाना ग़फ़लत है जिसका अज़ाब आज हमारी नई नस्ल भुगत रही है।

एक और बहुत बड़ी ज़मीनी हक़ीक़त हमारी बस्तियों का माहौल है। आज मुल्क के ज़्यादातर बड़े शहरों में मुस्लिम आबादियां उन इलाक़ों में सिमट गई हैं जिन्हें आम ज़बान में 'घेठो' या तंग बस्तियां कहा जाता है। यह बस्तियां दरअसल खौफ और असुरक्षा का नतीजा हैं, जहाँ लोग दंगों के डर से एक साथ रहने पर मजबूर हो गए। लेकिन इन बस्तियों की हक़ीक़त क्या है? वहां खुली हवा का गुज़र नहीं है, पीने का साफ़ पानी नहीं है, सीवर लाइनें उबल रही हैं और हर वक़्त शोर-ओ-गुल रहता है।

ज़रा तसव्वुर कीजिए उस बच्चे का जिसे कल सुबह मेडिकल का एंट्रेंस इम्तिहान देना है, और वो दस बाई दस के एक छोटे से कमरे में बैठा है जहाँ उसके पांच और बहन-भाई सो रहे हैं, बाहर गली में लाउडस्पीकर बज रहा है और रात के दो बजे बिजली कट जाती है। वो बच्चा किस तरह किसी ऐसे बच्चे से मुकाबला कर सकता है जो एक शानदार और पुरसुकून कमरे में इंटरनेट और एयर कंडीशनर के साथ पढ़ाई कर रहा हो? तालीम हासिल करने के लिए सिर्फ ज़ेहानत काफी नहीं होती, उसके लिए एक माकूल माहौल भी चाहिए होता है, जो हमारी बस्तियों से पूरी तरह छिन चुका है।

इन बस्तियों में अच्छे सरकारी स्कूल तो दूर की बात, प्राइवेट स्कूलों का मयार भी निहायत दर्जे का गिरा हुआ है। जो थोड़े बहुत स्कूल वहां मौजूद हैं, वहां न तो काबिल उस्ताद हैं और न ही साइंस की लेबोरेटरीज़। हमारे बच्चे इन्हीं कमज़ोर बुनियादों के साथ जब बारहवीं पास करके बाहर निकलते हैं, तो उनका मुकाबला उन बच्चों से होता है जिन्होंने मुल्क के सबसे महंगे और बेहतरीन स्कूलों में पढ़ाई की है। नतीजा वही होता है—नाकामी और मायूसी। इस नाकामी को वो अपनी किस्मत का लिखा मान लेते हैं और पढ़ाई छोड़कर किसी कारखाने या गराज का रुख कर लेते हैं।

हमारी गलतियों की फेहरिस्त में सबसे दर्दनाक पन्ना हमारी बच्चियों की तालीम का है। ऑल इंडिया सर्वे ऑन हायर एजुकेशन के आंकड़े जब मुस्लिम औरतों और लड़कियों की आला तालीम के बारे में बताते हैं, तो शर्म से सर झुक जाता है। हमारे समाज में आज भी लड़कियों की तालीम को वो अहमियत नहीं दी जाती जो लड़कों को दी जाती है। एक गरीब बाप अगर किसी तरह पैसे जोड़ भी लेता है, तो वो उस पैसे से बेटे को पढ़ाना चाहता है, बेटी को नहीं। इसके पीछे एक पुरानी और रुढ़िवादी सोच है कि बेटी को तो आखिरकार किसी और के घर जाकर चूल्हा-चौका ही करना है, तो उस पर तालीम का खर्च क्यों किया जाए?

और अगर कोई लड़की पढ़ना भी चाहे, तो हमारी बस्तियों में लड़कियों के लिए अच्छे डिग्री कॉलेज नहीं हैं। शहर से दूर किसी यूनिवर्सिटी में बेटी को भेजना हमारे समाज के लिए आज भी एक बहुत बड़ा और मुश्किल फैसला होता है। हिफ़ाज़त का खौफ़, समाज के ताने और अपनी ही बनाई हुई झूठी इज्ज़त की बेड़ियां हमारी बच्चियों के पैरों में डाल दी जाती हैं। वो बच्चियां जो अपनी ज़ेहानत से मुल्क का निज़ाम चला सकती थीं, उन्हें महज़ सिलाई, कढ़ाई और रोटियां गोल बनाने के इल्म तक महदूद कर दिया जाता है। हमने यह सोचने की ज़हमत ही नहीं की कि एक तालीम-याफ़्ता माँ ही एक तालीम-याफ़्ता नस्ल को जन्म दे सकती है। जो क्रौम अपनी औरतों को इल्म से दूर रखती है, वो दरअसल अपने ही मुस्तक़बिल की जड़ें काट रही होती है।

ज़मीनी हक़ीक़तों में एक और बड़ा नासूर है मज़हबी और समाजी रहनुमाओं की तालीम के मसले पर खामोशी। जुमे के खुत्बों में हमें हर मसले पर तकरीरें सुनने को मिलेंगी। हमें माज़ी के शानदार क्रिस्से सुनाए जाएंगे, हमें दुनिया की बे-सबाती (अस्थायित्व) का एहसास दिलाया जाएगा, लेकिन कितने ऐसे खुत्बे होते हैं जिनमें मिम्बर से यह ऐलान किया जाए कि ऐ अवाम, अपनी आधी रोटि खाना मगर अपने बच्चों को स्कूल ज़रूर भेजना? कितनी मस्जिदों में तालीमी बेदारी की कमेटियां बनी हैं? कितनी जगहों पर उलेमाओं ने यह फतवा दिया कि जो माँ-बाप अपने बच्चों को जानबूझकर स्कूल नहीं भेजते, वो अल्लाह के नज़दीक गुनहगार हैं? हमारी रहनुमाई करने वालों ने हमें जज़्बाती नारों पर तो खूब इकट्ठा किया, लेकिन तालीम और रोज़गार जैसे असली मसाइल पर उन्होंने मुकम्मल खामोशी ओढ़ ली।

और जब हम आला तालीम यानी यूनिवर्सिटीज़ में पहुँचने वाले अपने उन चंद खुशनसीब बच्चों की तरफ़ देखते हैं जिन्होंने तमाम रुकावटों को पार कर लिया है, तो वहाँ उन्हें एक नई क्रिस्म के तअस्सुब और भेदभाव का सामना करना पड़ता है। क्लासरूम का माहौल, हॉस्टल की ज़िंदगी और दोस्तों के बीच उन्हें बार-बार अपनी पहचान का एहसास दिलाया जाता है। कई बार उन्हें शक की निगाहों से देखा जाता है। यह नफ़्फ़िसियाती दबाव उन नौजवानों को अंदर से तोड़ देता है। कई बच्चे जो बहुत उमीदों के साथ यूनिवर्सिटी जाते हैं, वो इस अलगाववाद का शिकार होकर डिप्रेशन में चले जाते हैं।

ऑल इंडिया सर्वे ऑन हायर एजुकेशन के आंकड़े हमें महज़ यह नहीं बताते कि हम गिनती में कितने कम हैं। ये आंकड़े दरअसल हमारी इस मुल्क में हैसियत का पैमाना हैं। आज की दुनिया ज्ञान और तकनीक की दुनिया है। आज जंगें तलवारों और तोपों से नहीं, बल्कि डिग्रियों, रिसर्च, और आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस से लड़ी जा रही हैं। अगर हमारे पास वो आला तालीम नहीं होगी, अगर हम मेडिकल, लॉ, इंजीनियरिंग और मैनेजमेंट के इदारों में मौजूद नहीं होंगे, तो हम इस मुल्क की तरक्की में कोई भी हिस्सा नहीं ले पाएंगे। हम सिर्फ़ वोट देने वाली एक भीड़ बनकर रह जाएंगे, जिसका इस्तेमाल हर सियासतदान अपने फ़ायदे के लिए करेगा, लेकिन हमारे मसाइल हल करने के लिए कोई एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ाएगा। इस तालीमी पसमांदगी का सीधा असर हमारी आने वाली नस्लों की आज़ादी पर पड़ता है। एक अनपढ़ इंसान कभी अपने हुकूक की लड़ाई नहीं लड़ सकता। वो हमेशा दूसरों का मोहताज रहता है। अगर आज हमने इस तालीमी ज़वाल को नहीं रोका, अगर हमने आज अपनी इन ग़लतियों से तौबा नहीं की, तो कल हमारी हैसियत इस मुल्क में उन दूसरे दर्जे के शहरियों जैसी हो जाएगी जिन्हें कोई भी जब चाहे बेदखल कर दे, जिन्हें कोई भी जब चाहे ज़लील कर दे।

हमें यह समझना होगा कि इल्म की यह कमी हमारे लिए कितनी जानलेवा हो चुकी है। हमारे नौजवानों के हाथों में जो मोबाइल फ़ोन हैं, वो दुनिया ज़हान की ख़बरें तो देख रहे हैं, लेकिन वो यह नहीं देख पा रहे कि वो खुद किस तेज़ी से तबाही की तरफ़ बढ़ रहे हैं।

हमने शादियों में लाखों रुपये खर्च करने को अपनी शान मान लिया है, हमने दिखावे की ज़िंदगी को तरजीह दी है, लेकिन हमने अपने मोहल्लों में कोचिंग सेंटर या लायब्रेरीज़ बनाने को कभी अपनी शान का हिस्सा नहीं माना।

यह बाब कोई मातम करने के लिए नहीं लिखा जा रहा है, और न ही यह सिर्फ हुकूमत की साजिशों का रोना रोने के लिए है। यह हमारे लिए आईने की तरह है। जब हम आईने में अपनी खराब सूरत देखते हैं, तो हम आईने को नहीं तोड़ते, बल्कि हम अपने चेहरे को साफ़ करते हैं। आज हमारे समाज के चेहरे पर इस तालीमी पसमांदगी, गरीबी, और ग़फ़लत की जो कालिख लगी हुई है, उसे सिर्फ़ और सिर्फ़ इल्म के पानी से ही धोया जा सकता है।

ज़मीनी हकीकत यही है कि रास्ता बहुत मुश्किल है। गरीबी भी है, तअस्सुब भी है, और अंदरूनी कमज़ोरियां भी हैं। लेकिन ज़िंदा क्रौमें उन्हीं हालातों में से अपने लिए रास्ते तलाश करती हैं। हमें अपने अंदर एक ऐसी बेदारी लानी होगी जहाँ तालीम सिर्फ़ एक ज़रूरत न रहे, बल्कि तालीम हमारा सबसे बड़ा मज़हब और हमारा सबसे बड़ा जूनून बन जाए। जब तक हम अपने बच्चों की किताबों के लिए अपनी ख़्वाहिशों का क़ल्ल नहीं करेंगे, तब तक हम इस पसमांदगी के दलदल से बाहर नहीं आ सकते।

और इस हकीकत को और भी ज़्यादा मज़बूती और सरकारी मोहर के साथ अगर किसी ने बेनक़्ाब किया, तो वह सच्चर कमेटी और रंगनाथ मिश्रा कमीशन की रिपोर्टें थीं। उन दस्तावेज़ों ने वो हकीकत बयान की जिसने पूरे मुल्क की सियासत में भूचाल ला दिया। अगले बाब में हम उन्हीं तारीख़ी दस्तावेज़ों और शहादतों की गहराइयों में उतरेंगे और देखेंगे कि जब मुल्क की हुकूमत ने खुद हमारी हालत का जायज़ा लिया, तो उसके सामने हमारे दर्द की कौन सी तस्वीर उभर कर आई। वो तस्वीर जिसने साबित कर दिया कि हमारा दर्द कोई खयाली पुलाव नहीं, बल्कि आज़ाद हिंदुस्तान की सबसे बड़ी और कड़वी सच्चाई है।

बाब 8: सच्चर कमेटी और रंगनाथ मिश्रा कमीशन की दस्तावेज़ी शहादतें

आज़ादी के बाद के कई दशकों तक इस मुल्क के मुसलमानों को एक मीठे मुग़ालते में रखा गया। हर चुनाव से पहले सियासतदान हमारी बस्तियों में आते, हमारे रहनुमाओं के गले में फूल-मालाएं डालते, और हमें यह यकीन दिलाते कि इस आज़ाद हिंदुस्तान में हम बराबर के हिस्सेदार हैं। हमें यह बताया जाता रहा कि हुकूमत हमारी तरक्की के लिए दिन-रात फिक्रमंद है। लेकिन जब हकीकत की धूप इन मीठे वादों पर पड़ी, तो मालूम हुआ कि यह सब सिर्फ़ एक सियासी धोखा था। हमारी बस्तियों की उबलती हुई गटर लाइनें, हमारे बच्चों के हाथों में किताबों की जगह कारखानों के औज़ार, और अदालतों और जेलों में हमारे नौजवानों की बेतहाशा भीड़ इस बात की गवाही दे रही थी कि मुल्क तरक्की कर रहा है, लेकिन मुसलमान हर गुज़रते दिन के साथ ज़मीन में धंसता जा रहा है।

इस दर्द और इस तबाही को हमेशा यह कहकर खारिज कर दिया जाता था कि मुसलमान अपनी बदहाली का रोना खुद रोते हैं। कहा जाता था कि यह हमारा अपना पैदा किया हुआ वहम है। लेकिन फिर वक़्त ने एक ऐसी करवट ली जिसने पूरे मुल्क की सियासत के चेहरों से नक्राब नोच लिया। दो हज़ार छह में जब जस्टिस राजिंदर सच्चर कमेटी की रिपोर्ट हुकूमत की मेज़ पर रखी गई, तो वह सिर्फ़ कागज़ों का एक पुलिंदा नहीं थी। वह आज़ाद हिंदुस्तान की तारीख का वह सबसे बड़ा और सबसे खौफनाक आईना था, जिसमें हिंदुस्तानी मुसलमानों की गरीबी, बेबसी और उनकी माशी तबाही की वह तस्वीर नज़र आई, जिसे देखकर पत्थर दिल इंसान का भी कलेजा फट जाए। और इसके ठीक बाद जब रंगनाथ मिश्रा कमीशन ने अपनी रिपोर्ट पेश की, तो उसने इस ज़ख़्म पर आखिरी मुहर लगा दी।

इस बाब में हम उन दस्तावेज़ी शहादतों की गहराइयों में उतरेंगे, और उनके साथ हालिया ऑल इंडिया सर्वे ऑन हायर एजुकेशन के उन ताज़ा आंकड़ों को जोड़ेंगे, जो यह बताते हैं कि सच्चर कमेटी के सालों बाद भी हमारे हालात सुधरे नहीं, बल्कि हम तबाही की एक और गहरी खाई में गिर चुके हैं।

ज़रा तसव्वुर कीजिए सच्चर कमेटी के उस दौर का। जब यह कमेटी मुल्क के अलग-अलग शहरों, गांवों और कस्बों में मुसलमानों की असल हालत जानने के लिए गई, तो उन्हें क्या मिला? उन्हें शानदार बंगले या बड़ी गाड़ियां नहीं मिलीं। उन्हें मिलीं वो तंग और सीलन भरी गलियां जहाँ सूरज की रोशनी तक नहीं पहुँच पाती। उन्हें मिले वो जुलाहे जिनकी आँखें करघे पर धागे पिरोते-पिरोते धुंधली हो चुकी थीं। उन्हें मिले वो बाप जो अपने बच्चों की स्कूल की फ़ीस न दे पाने की वजह से रातों को रोते थे। सच्चर कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में साफ़-साफ़ अल्फ़ाज़ में लिखा कि हिंदुस्तानी मुसलमानों की हालत मुल्क के दलितों और सबसे पिछड़े तबकों से भी बदतर हो चुकी है। यह जुमला कोई मामूली जुमला नहीं था। यह उस क्रौम के मुंह पर एक बहुत बड़ा तमाचा था जो कभी इस मुल्क की हुक्मरान हुआ करती थी, और यह मुल्क के उस निज़ाम के मुंह पर भी तमाचा था जो आज्ञादी और बराबरी के झूठे गीत गाता था।

सबसे बड़ा और दिल चीर देने वाला पर्दाफ़ाश हमारे रोज़गार और हमारे कारोबार को लेकर हुआ। एक ग़रीब इंसान जब कुछ नया शुरू करना चाहता है, कोई छोटी सी दुकान खोलना चाहता है, या एक सिलाई मशीन खरीदना चाहता है, तो वह बैंक की तरफ़ उम्मीद की निगाह से देखता है। लेकिन सच्चर कमेटी ने बताया कि बैंकों ने मुस्लिम बहुल इलाकों को साज़िशन ऐसे निशानों में तब्दील कर दिया था जहाँ कोई कर्ज़ नहीं दिया जाता। उन इलाकों को ऐसा दायरा मान लिया गया जहाँ अगर बैंक पैसा देगा तो वह डूब जाएगा।

ज़रा उस नौजवान की कैफ़ियत महसूस कीजिए, जो अपना एक छोटा सा कारोबार शुरू करने का ख़्वाब लेकर बैंक के चक्कर काटता है। उसके पास हुनर है, उसके पास एक मुकम्मल मंसूबा है, लेकिन बैंक का मैनेजर सिर्फ़ इसलिए उसकी फाइल को कूड़ेदान में फेंक देता है क्योंकि उसके नाम के साथ एक ऐसा लफ़्ज़ जुड़ा है जिस पर इस निज़ाम को भरोसा नहीं है। वो नौजवान जब बैंक की सीढ़ियों से मायूस लौटता है, तो वह सिर्फ़ खाली हाथ नहीं लौटता, उसकी रूह अंदर से टूट चुकी होती है। वो जाकर फुटपाथ पर सब्ज़ी का ठेला लगाता है या किसी कारख़ाने में पसीना बहाता है। सच्चर कमेटी ने यह साबित किया कि मुसलमानों को कर्ज़ देने की शराह पूरे मुल्क में सबसे कम थी।

जब सरमाया ही नहीं मिलेगा, जब बैंक हमारा साथ ही नहीं देंगे, तो हमारी बस्तियों से बड़े ताजिर और कारखानेदार कैसे पैदा होंगे? यह कोई मज़हबी साज़िश नहीं थी, यह एक खालिस माशी और निज़ामी भेदभाव था जिसने मुसलमानों की रीढ़ की हड्डी को तोड़ कर रख दिया।

इसी के साथ सरकारी नौकरियों में हमारी हैसियत की जो तस्वीर सच्चर कमेटी ने पेश की, उसने हर बा-ज़मीर इंसान को रुला दिया। जिस क़ौम की आबादी मुल्क में पंद्रह फ़ीसद के करीब थी, आला सरकारी ओहदों पर उनकी तादाद सिर्फ़ तीन फ़ीसद थी। पुलिस में, सुरक्षा बलों में, और उन जगहों पर जहाँ फैसले लिए जाते हैं, मुसलमान नदारद थे। जब आप किसी सरकारी दफ़्तर में जाते हैं और वहां कुर्सी पर बैठा हुआ हर अफ़सर आपको एक अजनबी और शक की निगाह से देखता है, तो आप उस दफ़्तर से इंसान की उम्मीद कैसे कर सकते हैं?

लेकिन इन सब में सबसे भयानक और रुला देने वाली हकीकत हमारी तालीम के मैदान से सामने आई। तालीम ही वह वाहिद सीढ़ी है जो ग़रीबी के इस गहरे कुएं से इंसान को बाहर निकाल सकती है। सच्चर कमेटी ने बताया कि हमारे बच्चे मदरसों या प्राइमरी स्कूलों में दाखिला तो लेते हैं, लेकिन जैसे ही वह कुछ बड़े होते हैं, उनके कन्धों पर किताबों के बस्ते की जगह मज़दूरी का बोरा रख दिया जाता है। तालीम बीच में ही छोड़ देने की जो शराह मुसलमानों में है, वह पूरे मुल्क में किसी और तबके में नहीं है।

अब आप इसी दर्द को हालिया ऑल इंडिया सर्वे ऑन हायर एजुकेशन के ताज़ा आंकड़ों की रौशनी में देखिए। जब सच्चर कमेटी आई थी, तो हमें लगा था कि अब हुकूमत की आँखें खुलेंगी, अब हमारी बस्तियों में स्कूल खुलेंगे, और अब हमारे बच्चे भी यूनिवर्सिटीज़ की राह लेंगे। लेकिन ताज़ा सर्वे के पन्ने जब हम पलटते हैं, तो वो सच्चर कमेटी से भी ज़्यादा खौफनाक और दिल दहला देने वाली तस्वीर पेश करते हैं। सर्वे चीख-चीख कर बता रहा है कि आला तालीम में मुसलमानों का दाखिला बढ़ने के बजाय और नीचे गिर गया है। आज के दौर में आला तालीम के इदारों में मुसलमानों की हिस्सेदारी महज़ साढ़े चार फ़ीसद के आस-पास सिमट कर रह गई है। और पिछले दो-तीन सालों के आंकड़े तो यह गवाही दे रहे हैं कि इस तादाद में लगातार गिरावट आ रही है।

ज़रा रुकिए और सोचिए कि इन साढ़े चार फ़ीसद के आंकड़ों के पीछे कितनी दर्दनाक कहानियाँ छुपी हैं। यह महज़ कागज़ पर लिखे हुए नंबर नहीं हैं। यह उन हज़ारों नौजवानों के ख़्वाबों की क़ब्रें हैं जो आला तालीम हासिल करना चाहते थे। जब एक मज़दूर बाप दिन भर ईंटें ढोने के बाद शाम को घर लौटता है, तो उसका बच्चा उससे पूछता है कि अब्बू मेरी मेडिकल की कोचिंग की फ़ीस का क्या हुआ? वो बाप नज़रे चुरा कर कहता है कि बेटा अभी सेठ ने पैसे नहीं दिए। वो बच्चा समझ जाता है कि अब उसे डॉक्टर की सफ़ेद क़मीज़ नहीं, बल्कि किसी मैकेनिक की कालिख भरी वर्दी पहननी है।

आला तालीम कोई मामूली चीज़ नहीं है। आज की दुनिया डिग्रियों, ज़दीद तकनीक और आला हुनर की दुनिया है। ऑल इंडिया सर्वे ऑन हायर एजुकेशन हमें यह आईना दिखा रहा है कि जिन इदारों से मुल्क के डॉक्टर, इंजीनियर, आई ए एस और बड़े अफ़सर निकलते हैं, उन इदारों के दरवाज़ों पर मुसलमानों का दाखिला लगभग बंद हो चुका है। क्यों? क्योंकि हमारे पास फ़ीस भरने के लिए पैसे नहीं हैं। क्योंकि हमारी बस्तियों में वह माहौल नहीं है जो एक बच्चे को उस मुक़ाबले के लिए तैयार कर सके। सर्वे की रिपोर्ट में जब मुस्लिम लड़कियों की आला तालीम के आंकड़े सामने आते हैं, तो आँखें शर्म और दुःख से झुक जाती हैं।

हमारी बच्चियाँ, जिनमें बेपनाह सलाहियतें मौजूद हैं, वो आला तालीम से महरूम रखी जा रही हैं। ग़रीबी एक बहुत बड़ा सबब है, लेकिन इसके साथ ही हमारे समाज का वह ख़ौफ़ और वह रुढ़िवादी सोच भी ज़िम्मेदार है जहाँ बेटियों को शहर से दूर यूनिवर्सिटीज़ में भेजने से लोग घबराते हैं। जो बच्चियाँ कल को किसी बड़े अस्पताल की सर्जन बन सकती थीं, किसी बड़ी यूनिवर्सिटी की प्रोफ़ेसर बन सकती थीं, उन्हें बहुत छोटी उम्र में महज़ चूल्हा-चौका करने के लिए घरों की चारदीवारी में कैद कर दिया जाता है। एक अनपढ़ माँ कभी भी अपने बच्चों को दुनिया से लड़ने का हुनर नहीं सिखा सकती। ताज़ा सर्वे के आंकड़े दरअसल हमारी इसी मुजरिमाना ग़फ़लत की गवाही दे रहे हैं कि हम अपने हाथों से अपनी नस्लों का क़त्ल कर रहे हैं।

सच्चर कमेटी के बाद रंगनाथ मिश्रा कमीशन ने जो शहादतें पेश कीं, उसने इस पूरे दर्द को एक नई जुबान दी। रंगनाथ मिश्रा कमीशन ने साफ़ तौर पर कहा कि मुसलमानों की जो पसमांदगी है, वह कोई हादसा नहीं है, बल्कि वह सदियों की उपेक्षा और निज़ामी नाइंसाफी का नतीजा है। कमीशन ने यहाँ तक कहा कि मुसलमानों को भी तालीम और रोज़गार में आरक्षण यानी रिज़र्वेशन मिलना चाहिए, ठीक उसी तरह जैसे दलितों और पिछड़े वर्गों को मिलता है, क्योंकि मुसलमानों की माशी और समाजी हालत किसी भी सूरत में दलितों से बेहतर नहीं है। कमीशन ने सिफ़ारिश की कि अकलियतों के लिए पंद्रह फ़ीसद और उसमें से खास तौर पर मुसलमानों के लिए दस फ़ीसद हिस्सेदारी मुकर्रर की जानी चाहिए।

लेकिन इस मुल्क की सियासत का अलमिया देखिए। यह दस्तावेज़, जो हमारी आज़ादी, हमारे रोज़गार और हमारी आने वाली नस्लों की ज़िंदगी का परवाना थे, उन्हें हुकूमतों ने धूल खाने के लिए अलमारियों में बंद कर दिया। इन कमेटियों की रिपोर्टों पर लंबी-लंबी बहसें तो हुईं, सियासतदानों ने हमारे हमदर्द होने का दिखावा तो खूब किया, लेकिन जब अमल करने का वक़्त आया, तो किसी ने एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ाया। रंगनाथ मिश्रा कमीशन की सिफ़ारिशें आज तक सिर्फ़ कागज़ों की ज़ीनत बनी हुई हैं। हमारे हक़ को हमारे सामने तश्तरी में रखकर फिर हमारे मुंह से छीन लिया गया।

इन दोनों अज़ीम दस्तावेज़ों ने एक और बहुत कड़वी सच्चाई बयान की, जिसका सामना हम रोज़ अपनी ज़िंदगी में करते हैं। वह है हमारी बस्तियों का घुटन भरा और बुनियादी सहूलियतों से महरूम माहौल। सच्चर कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि मुल्क की जिन बस्तियों में मुसलमानों की घनी आबादी है, वहां हुकूमत की बुनियादी योजनाएं पहुँचती ही नहीं हैं। अगर आप किसी शहर में चले जाएं और वहां की सबसे खराब, टूटी हुई सड़क और बहती हुई नालियों वाली बस्ती को देखें, तो आपको किसी से पूछने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी, आप खुद समझ जाएंगे कि यह मुसलमानों का मोहल्ला है।

हमारे मोहल्लों में हुकूमत की तरफ़ से प्राइमरी स्कूल नहीं खोले जाते। अगर खोले भी जाते हैं तो वहां कोई उस्ताद नहीं होता, छतों से पानी टपकता है और पीने का साफ़ पानी मयस्सर नहीं होता। अस्पतालों और डिस्पेंसरियों की तो बात ही छोड़ दीजिए। हमारी औरतें आज भी उन झोलाछाप डॉक्टरों के भरोसे अपनी जान दांव पर लगाती हैं क्योंकि हुकूमत ने हमारी बस्तियों को उस क़ाबिल ही नहीं समझा कि वहां कोई अच्छा सरकारी अस्पताल बनाया जाए। क्या एक जम्हूरियत में, एक आज़ाद मुल्क में किसी तबके को सिर्फ़ उसके मज़हब की बुनियाद पर इन बुनियादी हक़ूक़ से महरूम किया जा सकता है? रंगनाथ मिश्रा और सच्चर की रिपोर्टों ने साबित किया कि हाँ, इस मुल्क में ऐसा हो रहा है और बाक़ायदा एक मंसूबे के तहत हो रहा है।

ज़रा एक आम इंसान की ज़िंदगी के उस दर्द को महसूस कीजिए जो इन आंकड़ों के बोझ तले हर रोज़ कुचला जाता है। वो बाप जो दिन भर मज़दूरी करके लौटता है, जब वह देखता है कि उसकी बस्ती के बाहर जो इलाक़ा है, वहां रात भर बिजली जलती है, वहां के रास्ते साफ़ हैं, और वहां के बच्चे शानदार स्कूलों की बसों में बैठकर जाते हैं। लेकिन जैसे ही वह अपनी बस्ती की हदों में दाखिल होता है, अँधेरा उसका इस्तक़बाल करता है, कीचड़ से सने हुए रास्ते उसका मुँह चिढ़ाते हैं और उसके खुद के बच्चे गलियों में कंचे खेलते हुए अपना मुस्तक़बिल बर्बाद कर रहे होते हैं। वो आस्मान की तरफ़ देखकर सोचता है कि क्या आज़ाद मुल्क में उसकी हैसियत सिर्फ़ इतनी ही है? क्या उसका खून इस मुल्क की मिट्टी में शामिल नहीं है? यह वह नफ़िसयाती घुटन है जो इंसान को अंदर से मार देती है।

ये दस्तावेज़ी शहादतें और सर्वे के आंकड़े महज़ हुकूमत की नाकामी का सुबूत नहीं हैं। ये हमारे लिए भी एक बहुत बड़ा और भयानक सवालिया निशान हैं। हम इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि निज़ाम ने हमारे साथ सौतेला सुलूक किया, लेकिन क्या हमने उस सुलूक का मुक़ाबला करने के लिए खुद को तैयार किया? जब हुकूमत ने हमें पीछे धकेला, तो क्या हमने अपने पैरों पर खड़े होकर वापस आगे बढ़ने की कोई क़ौमी जद्दोज़हद की? अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है कि नहीं।

जब सच्चर कमेटी की रिपोर्ट आई और उसने बताया कि हम तालीम में पीछे हैं, तो हमें चाहिए था कि हम अपनी शादियों, अपने दिखावों और अपनी फ़िज़ूलखर्ची को पूरी तरह बंद कर देते और अपना एक-एक पैसा अपने बच्चों की तालीम पर लगा देते। जब हमें बताया गया कि बैंक हमें कर्ज़ नहीं देते, तो हमें चाहिए था कि हम अपनी मदद आप के तहत अपनी क्रौम के अंदर छोटे कोआपरेटिव निज़ाम खड़े करते। लेकिन हमने सिर्फ़ अख़बारों में इस रिपोर्ट की सुर्खियां पढ़ीं, नुक्कड़ों पर बैठकर हुक्मत को गालियां दीं, और फिर से उसी ग़फ़लत की नींद सो गए।

ऑल इंडिया सर्वे ऑन हायर एजुकेशन के जिन आंकड़ों पर हम आज खून के आँसू रो रहे हैं, वो रातों-रात पैदा नहीं हुए। वो हमारी कई दहाईयों की लापरवाही, हमारी तालीमी बेरुखी और हमारे रहनुमाओं की सियासी नाअहली का नतीजा हैं। हमारे सियासी रहनुमाओं ने कभी अवाम को तालीम और माशी आज़ादी के नाम पर इकट्ठा नहीं किया। उन्होंने हमेशा जज़्बाती मुद्दों पर हमें सड़कों पर उतारा, हमें पुलिस की लाठियां खिलवाईं और हमारी नौजवान नस्ल को अदालतों और मुकदमों के अंतहीन चक्करों में फंसा दिया। जब कोई क्रौम अपने असल मसाइल को छोड़कर सिर्फ़ जज़्बाती नारों के पीछे भागती है, तो उसका अंजाम यही होता है जो आज हमारा हो रहा है।

आज हालात यह हैं कि एक आम मुसलिम नौजवान के ज़हन में हर वक़्त एक अनजाना ख़ौफ़ और बेबसी छाई रहती है। वो यह मान चुका है कि चाहे वह कितनी भी मेहनत कर ले, निज़ाम उसे कभी क़बूल नहीं करेगा। यह जो उम्मीद का मर जाना है, यह किसी भी क्रौम के लिए सबसे ख़तरनाक मोड़ होता है। जब क्रौम के नौजवान ख़्वाब देखना बंद कर दें, जब वह यह सोच लें कि उनकी तकदीर में सिर्फ़ मज़दूरी, पंचर की दुकान या ठेले लगाना ही लिखा है, तो उस क्रौम को दुनिया की कोई ताक़त ज़वाल से नहीं बचा सकती।

सच्चर कमेटी और रंगनाथ मिश्रा कमीशन की ये दस्तावेज़ी शहादतें आज भी हमारी अलमारियों में धूल फांक रही हैं, लेकिन उनकी एक-एक लाइन आज भी सच साबित हो रही है। बल्कि आज के हालात उन रिपोर्टों से भी ज़्यादा संगीन और नाज़ुक हो चुके हैं।

ताज़ा सर्वे बता रहे हैं कि गरीबी, बेरोज़गारी और तालीमी पसमांदगी का जो जाल हमारे इर्द-गिर्द बुना गया था, वो अब इतना मज़बूत हो चुका है कि हमारी सांसें तक घुटने लगी हैं।

लेकिन सवाल यह है कि क्या हम सिर्फ़ रोते रहेंगे? क्या हम सिर्फ़ इन आंकड़ों को पढ़कर आहें भरते रहेंगे? तारीख़ गवाह है कि रोने वालों और किस्मत को कोसने वालों पर ज़माना कभी तरस नहीं खाता। अगर हमें इस ज़वाल के दलदल से बाहर निकलना है, अगर हमें ऑल इंडिया सर्वे ऑन हायर एजुकेशन के इन खौफनाक आंकड़ों को बदलना है, और अगर हमें सच्चर कमेटी की रिपोर्ट में लिखे हुए उस धब्बे को धोना है कि हम दलितों से भी ज़्यादा बदतर हैं, तो हमें एक बहुत बड़ी और बहुत तकलीफदेह कुर्बानी देनी होगी।

हमें अपनी नींदें हराम करनी होंगी। हमें अपनी अवाम के हक़ की लड़ाई सिर्फ़ अदालतों में नहीं, बल्कि हर घर की चौखट पर लड़नी होगी। हमें अपने बच्चों को यह समझाना होगा कि उनके हाथों में मौजूद क़लम ही वो वाहिद हथियार है जो उनकी खोई हुई इज़्ज़त वापस दिला सकता है। एक माँ को अपनी आखिरी रोटी भी बेचनी पड़े, तो बेचे, लेकिन अपने बच्चे को उस तालीमी इदारे तक ज़रूर पहुँचाए जहाँ से इस निज़ाम की बागडोर संभाली जाती है।

ये दस्तावेज़ी शहादतें सिर्फ़ हमारा दर्द नहीं हैं, ये हमारे लिए एक खुली किताब हैं जो बता रही हैं कि मुस्तक़बिल में आने वाला तूफ़ान कितना भयानक है। अगर आज भी हमारी आँखें नहीं खुलीं, अगर आज भी हमने तालीम और अपने हुनर को अपना सबसे बड़ा मक़सद नहीं बनाया, तो आने वाली नस्लें सिर्फ़ सच्चर कमेटी की रिपोर्टों में एक नंबर बनकर रह जाएंगी—एक ऐसा नंबर जिसकी कोई आवाज़ नहीं होगी, जिसका कोई वजूद नहीं होगा और जिसे कोई भी हुकूमत जब चाहे कुचल कर आगे बढ़ जाएगी।

यही वो दर्द, यही वो कड़वी हक़ीक़त और यही वो ज़मीनी सच्चाई है जो हमें आज़ादी के बाद विरासत में मिली है। और यह वो मोड़ है जहाँ से हमें आगे की तरफ़ देखना निहायत ज़रूरी है। क्योंकि इसी तालीमी और माशी पसमांदगी के साए में अब हमारी नौजवान नस्लें आला तालीम के इदारों में अपनी जगह तलाश करने की जद्दोज़हद कर रही हैं।

यह जद्दोजहद महज़ चंद डिग्रियों की नहीं, बल्कि अपने वजूद और अपनी आज़ादी की सबसे बड़ी जंग है। और इसी जंग की तफ़सील, इसके ताज़ा तरीन सरकारी आंकड़े और आला तालीम में हमारे वजूद की असली हकीक़त हम अगले बाब में देखेंगे, जहाँ तालीम के मैदान में मुसलिम नौजवानों की आखिरी साँस लेती हुई उम्मीदों का जायज़ा लिया जाएगा।

बाब 9: आला तालीम में मुसलमान: हालिया सरकारी आंकड़ों की रौशनी में

जब कोई क्रौम अपने ज़वाल की आखिरी मंज़िलों पर पहुँचती है, तो उसके पतन की गवाही सिर्फ़ उसकी टूटी हुई इमारतें या फटे हुए कपड़े नहीं देते, बल्कि उसकी सबसे बड़ी गवाही उन इदारों के वीरान दरवाज़े देते हैं जहाँ से इल्म की रौशनी बंटती है। आला तालीम, यानी यूनिवर्सिटी और कॉलेज की तालीम, किसी भी इंसान या क्रौम के लिए महज़ एक डिग्री नहीं होती। यह वह वाहिद चाबी है जो मुल्क के बड़े दफ्तरों, हुकूमत की कुर्सियों और माशी आज़ादी के ताले खोलती है। लेकिन आज जब हम मुल्क की बड़ी यूनिवर्सिटीज़ के दरवाज़ों पर खड़े होकर देखते हैं, तो एक खौफनाक सन्नाटा हमारा इस्तक्रबाल करता है। हिंदुस्तानी मुसलमानों के लिए यह दरवाज़े जैसे हमेशा के लिए बंद होते जा रहे हैं।

यह कोई सुनी-सुनाई बात नहीं है, और न ही यह किसी जज़्बाती अखबार की सुखी है। जब हम अपनी हक़ीक़त को आंसुओं से नहीं, बल्कि हुकूमत के अपने तैयार किए गए पक्के और ठोस सरकारी दस्तावेज़ों की रौशनी में देखते हैं, तो जो तस्वीर उभरती है, वो रूह को कंपा देने वाली है। मरकज़ी वज़ारत-ए-तालीम यानी मुल्क के शिक्षा मंत्रालय की जानिब से हर साल एक मुकम्मल दस्तावेज़ जारी किया जाता है, जिसे 'ऑल इंडिया सर्वे ऑन हायर एजुकेशन' कहा जाता है। यह सर्वे मुल्क के हर कॉलेज, हर यूनिवर्सिटी और हर तालीमी इदारे का बाक्रायदा हिसाब रखता है। यह हुकूमत का वो आईना है जिसमें कोई झूठ नहीं बोल सकता। इसी सर्वे की हालिया रिपोर्टों ने मुसलमानों की तालीमी पसमांदगी का जो जनाज़ा निकाला है, उसे देखकर अगर आज भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं, तो शायद फिर कभी नहीं खुलेंगी।

ज़रा इस दर्द को सिर्फ़ नंबरों की नज़रों से मत देखिए। जब हालिया रिपोर्ट यह बताती है कि आला तालीम में मुसलमानों का दाखिला महज़ साढ़े चार फ़ीसद के आस-पास रह गया है, तो इस एक आंकड़े के पीछे लाखों टूटते हुए ख्वाबों की सिसकियां छुपी हैं।

मुल्क की आबादी में हमारी हिस्सेदारी पंद्रह फ़ीसद के करीब है, लेकिन जब बात यूनिवर्सिटीज़ में दाखिले की आती है, तो हम साढ़े चार फ़ीसद पर सिमट जाते हैं। इसका सीधा सा मतलब यह है कि अगर किसी बड़े कॉलेज की क्लास में सौ बच्चे बैठे हैं, तो उनमें से बमुश्किल चार या पांच बच्चे ही मुसलमान हैं। बाक़ी पचानवे बच्चे मुल्क के दीगर तबकों से हैं। मुल्क का दलित और पिछड़ा तबका भी आज इस मैदान में हमसे कहीं आगे निकल चुका है।

ज़रा तसव्वुर कीजिए उस एक मुस्लिम नौजवान का जो उन पचानवे बच्चों के बीच बैठा है। वह सिर्फ़ अपनी तालीम की जंग नहीं लड़ रहा होता, बल्कि वह अपनी क़ौम की ग़रीबी, तअस्सुब और माज़ी की तमाम नाकामियों का बोझ भी अपने कमज़ोर कंधों पर उठाए हुए होता है।

इन सरकारी आंकड़ों में जो सबसे ज़्यादा डराने वाली हक़ीक़त सामने आई है, वह हाल ही में जारी होने वाली दो हज़ार बीस और इक्कीस की रिपोर्ट है। इस रिपोर्ट ने एक ऐसा राज़ फाश किया जिसने तालीम के मैदान में काम करने वाले हर फ़िक्रमंद इंसान की नींदें उड़ा दीं। इस सर्वे के मुताबिक़, पिछले कुछ बरसों में मुसलमानों का आला तालीम में दाखिला बढ़ने के बजाय अचानक तेज़ी से नीचे गिर गया है। सरकारी आंकड़े गवाही देते हैं कि एक ही साल के अंदर आला तालीम के इंदारों से लगभग तीन लाख से ज़्यादा मुसलिम तालिब-ए-इल्म ग़ायब हो गए। उनकी दाखिले की शराह में तक्ररीबन आठ फ़ीसद की भारी गिरावट दर्ज़ की गई। तीन लाख बच्चे! यह कोई मामूली नंबर नहीं है। यह तीन लाख वो नौजवान थे जो शायद कल को इंजीनियर बनते, डॉक्टर बनते, या मुल्क की अफ़सरशाही का हिस्सा बनते। लेकिन वो कहाँ चले गए? क्या आस्मान उन्हें खा गया या ज़मीन निगल गई? नहीं, इन तीन लाख बच्चों को हमारी ग़रीबी, कोरोना की वबा के बाद आई माशी तबाही और हुकूमत की बेरुख़ी ने निगल लिया। जब पूरे मुल्क में लॉकडाउन लगा और कारोबार तबाह हुए, तो सबसे गहरी चोट उन लोगों पर पड़ी जो रोज़ कमाते और रोज़ खाते थे। मुसलमानों की एक बहुत बड़ी आबादी इसी दिहाड़ी मज़दूरी, छोटे कारखानों, टेलरिंग, और फुटपाथ की दुकानों पर अपनी ज़िंदगी गुज़ारती है।

जब बाप का रोज़गार छिन गया, घर में खाने के लाले पड़ गए, तो सबसे पहली कुर्बानी बच्चों की तालीम की दी गई। वो लड़का जो बीए या बीएससी के पहले साल में था, उसे अपनी किताबें बंद करके किसी वेल्डिंग की दुकान पर या सब्जी के ठेले पर खड़ा होना पड़ा ताकि उसके घर का चूल्हा जल सके। ऑल इंडिया सर्वे ऑन हायर एजुकेशन का यह आंकड़ा सिर्फ़ एक रिपोर्ट नहीं है, यह दरअसल उन तीन लाख मज़बूर बापों के आंसुओं का दस्तावेज़ है जो अपने बच्चों की फ़ीस नहीं भर सके।

इस कड़वी हकीक़त को थोड़ा और करीब से समझने के लिए हमें उन बड़े प्रोफेशनल कोर्सेज की तरफ़ देखना होगा जहाँ से असल माशी ताक़त पैदा होती है। आज का दौर मेडिकल, इंजीनियरिंग, मैनेजमेंट और कंप्यूटर साइंस का है। यही वो तालीम है जो इंसान को मल्टीनेशनल कंपनियों में और बड़े सरकारी ओहदों पर बिठाती है। लेकिन सरकारी आंकड़े बताते हैं कि इन भारी-भरकम और महंगी तालीम वाले इदारों में मुसलमानों की तादाद आटे में नमक के बराबर भी नहीं है।

जब एक ग़रीब मुसलिम लड़का डॉक्टर बनने का ख़्वाब देखता है, तो उसकी राह में सबसे बड़ी दीवार उसकी ज़ेहानत नहीं, बल्कि उसकी मुफ़लिसी होती है। नीट या जेईई जैसे इम्तिहान पास करने के लिए जिन महंगे कोचिंग सेंटरों की ज़रूरत होती है, उनकी फ़ीस लाखों में होती है। हमारा वो रिक्शा चलाने वाला बाप या सिलाई मशीन चलाने वाली माँ वो लाखों रुपये कहाँ से लाएगी? और अगर बच्चा अपनी मेहनत से इम्तिहान पास कर भी ले, तो प्राइवेट कॉलेजों की करोड़ों की फ़ीस सुनकर ही उसके ख़्वाब दम तोड़ देते हैं। सर्वे के आंकड़े चीख रहे हैं कि मुसलमानों के बच्चों को आला तालीम के नाम पर सिर्फ़ बीए, बीकॉम या किसी आर्ट्स के कोर्स में दाखिला मिल पाता है, जिसका आज के कॉर्पोरेट बाज़ार में कोई बहुत बड़ा मोल नहीं है। वो बच्चा तीन साल ग्रेजुएशन करने के बाद भी जब नौकरी मांगने जाता है, तो उसे बाज़ार से खाली हाथ लौटा दिया जाता है। एक और बहुत भयानक और रूढ़ कंपा देने वाली सच्चाई जो इस रिपोर्ट ने हमारे सामने रखी है, वह है हमारे उस्तादों यानी तालीम देने वालों की कमी। किसी भी कॉलेज या यूनिवर्सिटी का माहौल वहां पढ़ाने वाले उस्तादों से बनता है। जब कोई बच्चा किसी कॉलेज में जाता है और वहां उसे अपनी ही क़ौम का कोई प्रोफेसर या उस्ताद नज़र आता है, तो उसके अंदर एक बेपनाह हौसला और हिम्मत पैदा होती है। उसे लगता है कि अगर यह शख्स यहाँ तक पहुँच सकता है, तो मैं क्यों नहीं?

लेकिन ऑल इंडिया सर्वे ऑन हायर एजुकेशन के ताज़ा आंकड़े बताते हैं कि मुल्क भर की यूनिवर्सिटीज़ और कॉलेजों में मुसलिम उस्तादों की तादाद सिर्फ़ साढ़े पांच फ़ीसद है। और अगर मुल्क की बड़ी और नामी-गिरामी यूनिवर्सिटीज़ की बात करें, तो यह तादाद दो या तीन फ़ीसद भी नहीं बचती। जब किसी यूनिवर्सिटी के स्टाफ़ रूम में हमारे लिए कोई कुर्सी ही नहीं है, तो क्लासरूम में हमारे बच्चों की पैरवी कौन करेगा? जब बच्चा दाखिले के वक़्त किसी दफ़्तर में जाता है और उसे वहां कोई अपना नज़र नहीं आता, तो उसके अंदर पनपने वाला अनजाना ख़ौफ़ उसे पहले ही क़दम पर हरा देता है। यह कोई इत्तेफ़ाक़ नहीं है, बल्कि यह इस बात का सीधा सुबूत है कि जब आला तालीम में दाखिला ही नहीं होगा, डिग्रियां ही नहीं होंगी, तो हमारे लोग प्रोफेसर या वाइस चांसलर कैसे बनेंगे? यह एक ऐसा घूमता हुआ पहिया है जो हमें मुसलसल तबाही की तरफ़ ले जा रहा है।

इस सर्वे में जब हम अपनी बच्चियों, अपनी बहनों और बेटियों के आंकड़े देखते हैं, तो शर्म और बेबसी से सर झुक जाता है। वैसे तो पूरे तबके में ही तालीम का मयार गिरा हुआ है, लेकिन मुसलिम औरतों की हालत इस मुल्क में सबसे ज़्यादा ख़राब है। आला तालीम में मुस्लिम लड़कियों का दाखिला और भी तेज़ी से गिरा है। इसके पीछे सिर्फ़ ग़रीबी नहीं है, बल्कि हमारा अपना वो ज़मीनी और रुढ़िवादी रवैया भी है जो आज तक नहीं बदला।

हम अपनी बेटियों को प्राइमरी स्कूलों या मदरसों में तो भेज देते हैं, लेकिन जैसे ही बच्ची बारहवीं जमात पास करती है और उसके कॉलेज जाने का वक़्त आता है, तो हमारे समाज के कई मज़हबी और समाजी ठेकेदार फतवे लेकर खड़े हो जाते हैं। उन्हें लगता है कि अगर बच्ची कॉलेज गई, तो वो आज़ाद-ख़्याल हो जाएगी, उसके पर्दे में कमी आ जाएगी। इसके अलावा, ख़ौफ़ और असुरक्षा का माहौल भी एक बहुत बड़ा सबब है। एक ग़रीब और डरा हुआ मुसलमान अपनी बच्ची को घर से दूर किसी हॉस्टल में भेजने से घबराता है। नतीजा यह होता है कि वो बच्ची, जिसके अंदर इतनी ज़ेहानत थी कि वो मुल्क का निज़ाम चला सकती थी, उसे छोटी सी उम्र में ब्याह कर किसी दूसरे घर के चूल्हे-चौके के हवाले कर दिया जाता है। ताज़ा सरकारी आंकड़े दरअसल हमारे इसी दोहरे रवैये की गवाही दे रहे हैं। हम अपनी बेटियों का क़त्ल किसी धारदार हथियार से नहीं करते, बल्कि उनके कॉलेज के फार्म न भरकर हम उनके मुस्तक़बिल की सांसें घोंट देते हैं।

ज़रा सोचिए, जो माँ खुद जाहिल और अनपढ़ रह जाएगी, वो आने वाली नस्ल को कैसे तरबियत देगी? वो अपने बच्चों को स्कूल का होमवर्क कैसे कराएगी? वो दुनिया के तेज़ी से बदलते हुए निज़ाम का मुकाबला कैसे करेगी? यह आला तालीम से महरूमी दरअसल हमारी नस्ल-कुशी का वो ख़ामोश ज़रिया बन चुकी है जिसका हमें एहसास तक नहीं हो रहा है।

इन आंकड़ों का एक और पहलू जो बहुत ही दर्दनाक है, वह है रियासतों यानी स्टेट्स के हिसाब से हमारी हालत। उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल और आसाम जैसे बड़े सूबे जहाँ मुसलमानों की एक बहुत बड़ी आबादी बसती है, वहाँ तालीमी पसमांदगी के आंकड़े सबसे ज़्यादा खौफनाक हैं। उत्तर प्रदेश जैसे सूबे में जहाँ हर गली में एक मदरसा या मस्जिद नज़र आती है, वहाँ मुसलमानों का आला तालीम में दाखिला मुल्क की औसत से भी कम है। हमारी बस्तियों में वो चकाचौंध तो बहुत है जो चंद रुपयों की कमाई से आ जाती है, लेकिन वो सन्नाटा भी बहुत गहरा है जो इल्म की कमी से पैदा होता है।

ज़मीनी हकीकत यह है कि हमने खुद भी तालीम को अपनी अव्वल तरजीह नहीं बनाया। हम बड़ी-बड़ी दावतों में, शादियों के दिखावे में और महफ़िलों में तो लाखों रुपये लुटा देते हैं, लेकिन जब बात मोहल्ले के किसी ग़रीब यतीम बच्चे की कॉलेज की फ़ीस भरने की आती है, तो हमारी जेबें सिल जाती हैं। हम हुकूमत की पॉलिसी पर तो ख़ूब उँगलियाँ उठाते हैं, और यक़ीनन हुकूमतों ने हमारे साथ कोई इंसान नहीं किया, लेकिन क्या हमने अपने गिरेबान में झांक कर देखा कि हमने अपनी क़ौम के बच्चों के लिए कितने कॉलेज बनाए? हमने अपनी ज़कात और ख़ैरात का वो पैसा जो अक्सर ग़लत हाथों में चला जाता है, उसे एक क़ौमी तालीमी फंड बनाने में इस्तेमाल क्यों नहीं किया? आला तालीम के ये गिरते हुए सरकारी आंकड़े दरअसल इस बात का साफ़ ऐलान हैं कि आने वाले बीस या तीस सालों के बाद मुल्क के नक्शे पर हमारी कोई हैसियत नहीं बचने वाली। आज दुनिया आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस, कोडिंग, डेटा साइंस और रोबोटिक्स पर चल रही है। आज दुनिया की सरहदें हथियारों से नहीं, बल्कि ज़ेहानत और टेक्नोलॉजी से महफूज़ की जा रही हैं। जिस क़ौम का नौजवान आज भी इसी कशमकश में है कि उसे कॉलेज की फ़ीस के लिए कर्ज़ कहाँ से मिलेगा, वो क़ौम इस नई दुनिया का मुकाबला आखिर कैसे करेगी?

यह साढ़े चार फ़ीसद का आंकड़ा महज़ एक नंबर नहीं है, यह एक अलार्म है। यह खतरे की वो घंटी है जो हमें बता रही है कि अगर आज हमने अपनी नींद नहीं तोड़ी, तो हमारी आने वाली नस्लें सिर्फ़ सड़कों पर मज़दूरी करती हुई या जेलों में सड़ती हुई पाई जाएंगी। क्योंकि आला तालीम के बिना मुल्क के मुख्यधारा के निज़ाम में घुसने का कोई दूसरा दरवाज़ा नहीं है।

यह कोई सियासी साज़िश का रोना नहीं है, यह हमारे अपने हाथों से लिखी गई हमारी बर्बादी की दास्तान है, जिस पर हुकूमत के सर्वे ने अपनी मोहर लगा दी है। अब वक़्त यह नहीं है कि हम मायूस होकर बैठ जाएं, बल्कि वक़्त यह है कि हम इन आंकड़ों को एक चाबुक की तरह लें, जो हमारी ग़ाफ़लत को तोड़े। हमें अपनी हर फ़िज़ूलखर्ची को रोक कर सिर्फ़ और सिर्फ़ अपने बच्चों की तालीम पर पैसा लगाना होगा। जब तक हम आला तालीम के इस किले को फ़तह नहीं करेंगे, तब तक न हमारी माशी हालत सुधरेगी, और न ही हमें इस मुल्क में वो इज़्ज़त मयस्सर होगी जिसके हम असल हक़दार हैं।

और यह तालीमी पसमांदगी और ग़रीबी सिर्फ़ यहीं तक महदूद नहीं रहती। जब इंसान के पास इल्म नहीं होता, रोज़गार नहीं होता, तो वो ख़ौफ़ और ग़रीबी के एक ऐसे जानलेवा गढ़जोड़ में फंस जाता है, जहाँ से निकलना नामुमकिन हो जाता है। अगले बाब में हम इसी ख़ौफ़ और ग़रीबी के उस ख़ौफनाक गढ़जोड़ का जायज़ा लेंगे, जिसने एक आम मुसलिम की ज़िंदगी को एक ऐसी कशमकश में तब्दील कर दिया है, जहाँ हर सुबह एक नया इम्तिहान लेकर आती है और हर रात एक गहरे सदमे पर ख़त्म होती है।

बाब 10: ख़ौफ़ और गुरबत का गठजोड़: एक आम मुसलमान की ज़िंदगी की कशमकश

इंसान की ज़िंदगी में ग़रीबी एक बहुत बड़ा अज़ाब है, लेकिन जब इस ग़रीबी के साथ ख़ौफ़ भी जुड़ जाए, तो यह गठजोड़ एक ऐसा जानलेवा ज़हर बन जाता है जो पूरी की पूरी नस्लों को अंदर से खोखला कर देता है। एक ग़रीब इंसान फिर भी तरक्की के ख़्वाब देख सकता है, वह मेहनत करके अपना कल बदलने की उम्मीद रख सकता है, लेकिन जब वह इंसान डरा हुआ हो, जब उसके दिल में हर वक़्त अपने वजूद, अपनी इज़्ज़त और अपनी जान का ख़ौफ़ बैठा हो, तो उसके ख़्वाब मर जाते हैं। हिंदुस्तानी मुसलमानों की आज़ादी के बाद की दास्तान महज़ माशी तबाही की दास्तान नहीं है, बल्कि यह इसी ख़ौफ़ और गुरबत के उस भयानक गठजोड़ की दास्तान है, जिसने एक आम मुसलिम नौजवान, एक बाप और एक माँ की ज़िंदगी को हर रोज़ की एक ऐसी कशमकश में तब्दील कर दिया है, जहाँ से बाहर निकलने का रास्ता उन्हें नज़र नहीं आता।

इस दर्द को हम सिर्फ़ अखबारों की सुर्खियों या सियासी तकरीरों से नहीं समझ सकते। इस हकीकत को समझने के लिए हमें हुकूमत के उन मज़बूत और ठोस दस्तावेज़ों का दरवाज़ा खटखटाना होगा, जो मुल्क के हर शहरी का हिसाब रखते हैं। जब हम नेशनल सैंपल सर्वे ऑफिस, नेशनल क्राइम रिकार्ड्स ब्यूरो और रिज़र्व बैंक ऑफ़ इंडिया जैसी अज़ीम सरकारी संस्थाओं के आंकड़े खंगालते हैं, तो हमारी बस्तियों का जो दर्द कागज़ों पर उभर कर आता है, वह किसी भी बा-ज़मीर इंसान की रातों की नींद उड़ा देने के लिए काफी है।

ज़रा तसव्वुर कीजिए मुल्क के किसी भी आम शहर की एक मुसलिम बस्ती का। आप उस बस्ती में दाखिल होते हैं तो आपको क्या नज़र आता है? तंग गलियां, आपस में जुड़े हुए छोटे-छोटे मकान, जिनमें हवा और रौशनी का गुज़र मुश्किल से होता है, उबलती हुई गटर लाइनें और हर नुक्कड़ पर बेरोज़गार नौजवानों की भीड़। आप सोचेंगे कि यह लोग इन गंदी और तंग बस्तियों में क्यों रहते हैं? क्या इन्हें खुली हवा में सांस लेना पसंद नहीं? इसका जवाब हमें नेशनल सैंपल सर्वे ऑफिस और सेंसस यानी जन-गणना के आंकड़े देते हैं।

जन-गणना के दस्तावेज़ चीख-चीख कर बताते हैं कि मुल्क में मुसलमानों की एक बहुत बड़ी आबादी झुगियों, झोपड़ियों और बुनियादी सहूलियतों से महरूम बस्तियों में रहने पर मजबूर है।

लेकिन यह आबादियां अचानक वजूद में नहीं आईं। आज़ादी के बाद हुए अनगिनत फ़िर्कावाराना फसादों ने मुसलमानों के दिलों में एक ऐसा गहरा ख़ौफ़ पैदा कर दिया कि उन्होंने अपने कारोबार, अपनी खुली ज़मीनें और अपने अच्छे मोहल्ले छोड़कर एक साथ तंग गलियों में सिमटना शुरू कर दिया। इंसान अपनी जान और इज़्ज़त बचाने के लिए घनी आबादियों में पनाह लेता है। इन बस्तियों को अक्सर 'घेतो' कहा जाता है। यह ख़ौफ़ का ही नतीजा है कि एक पढ़ा-लिखा और अच्छा कमाने वाला मुसलमान भी आज मुल्क के कई बड़े शहरों में किसी अच्छे और खुले मोहल्ले में मकान या फ्लैट किराये पर लेने से डरता है, और अगर वो हिम्मत करता भी है, तो उसे उसके नाम और मज़हब की वजह से मकान देने से साफ़ इंकार कर दिया जाता है।

जब पूरी क़ौम ख़ौफ़ की वजह से चंद बस्तियों में सिमट जाती है, तो वहां ग़ुरबत अपना डेरा डाल लेती है। इन बस्तियों में हुकूमत की कोई योजना नहीं पहुँचती। न वहां अच्छे सरकारी अस्पताल बनाए जाते हैं, न वहां शानदार स्कूल होते हैं, और न ही वहां पीने के साफ़ पानी का इंतज़ाम होता है। सच्यर कमेटी ने बाक्रायदा अपनी रिपोर्ट में इस बात की शहादत दी है कि जिन इलाक़ों में मुसलमानों की आबादी ज़्यादा है, वहां हुकूमत की बुनियादी सहूलियतें सबसे कम हैं। अब उस बाप की ज़िंदगी की कशमकश को महसूस कीजिए जो ऐसी बस्ती में रहता है। वह दिन भर मज़दूरी करता है, लेकिन जब रात को घर लौटता है तो उसका बच्चा गंदे पानी की वजह से बीमार पड़ा होता है। बस्ती में कोई अच्छा सरकारी अस्पताल नहीं है, इसलिए वह अपनी दिन भर की कमाई किसी झोलाछाप डॉक्टर को दे देता है। ग़रीबी ने उसे वहां रहने पर मजबूर किया, और ख़ौफ़ ने उसे बाहर निकलने नहीं दिया। यही वह गठजोड़ है जो उसे कभी तरक्की नहीं करने देता।

इस गुरबत को और गहरा करने में हमारे निज़ाम के उस बर्ताव का बहुत बड़ा हाथ है, जिसका पर्दाफ़ाश रिज़र्व बैंक ऑफ़ इंडिया और सच्चर कमेटी के आंकड़ों ने किया है। कोई भी इंसान अपनी ग़रीबी को कैसे दूर कर सकता है? ज़ाहिर है, अपना कोई छोटा कारोबार शुरू करके। एक आम मुसलिम नौजवान, जिसके पास हुनर है, जो लेदर का बेहतरीन काम जानता है, जो कपड़े की सिलाई में माहिर है या जो लकड़ी पर बेहतरीन नक्काशी कर सकता है, उसे अपना कारख़ाना लगाने के लिए सरमाये की ज़रूरत होती है। वह नौजवान एक बहुत अच्छी फाइल बनाता है, अपने सारे दस्तावेज़ पूरे करता है और कर्ज़ लेने के लिए किसी सरकारी बैंक की शाख में जाता है।

लेकिन बैंक के अंदर दाखिल होते ही उसे जिस ठंडेपन और तअस्सुब का सामना करना पड़ता है, वह उसके सारे ख़्वाबों को वहीं दफ़न कर देता है। सच्चर कमेटी की रिपोर्ट और उसके बाद आने वाले कई आज़ाद सर्वे इस बात की गवाही देते हैं कि मुसलिम बहुल इलाक़ों को बैंकों ने बाक़ायदा ऐसे निशानों में तब्दील कर दिया है जहाँ कर्ज़ नहीं दिया जाता। इन इलाक़ों को रेड-ज़ोन या नाकाबिले-ऐतबार मान लिया गया है। सरकारी आंकड़े बताते हैं कि मुसलमानों को बैंकों से मिलने वाले कर्ज़ की शराह मुल्क में सबसे कम है। यहाँ तक कि हुकूमत की वो योजनाएं जो ख़ास तौर पर ग़रीबों और पिछड़ों के लिए बनाई गई हैं, उनका फायदा भी मुसलमानों तक नहीं पहुँच पाता।

जब उस नौजवान की कर्ज़ की अर्ज़ी सिर्फ़ इसलिए नामंज़ूर कर दी जाती है क्योंकि उसके नाम या उसके मोहल्ले पर निज़ाम को ऐतबार नहीं है, तो वह मायूस होकर क्या करता है? वह किसी साहूकार के पास जाता है, जो उससे भारी सूद वसूलता है, या फिर वह अपना ख़्वाब हमेशा के लिए छोड़कर उसी फुटपाथ पर छोटा सा ठेला लगा लेता है जहाँ उसके बाप ने अपनी पूरी उम्र गुज़ार दी थी। यह सिर्फ़ एक कर्ज़ के नामंज़ूर होने का वाक़्या नहीं है, यह एक पूरी क़ौम को माशी तौर पर पंगु बना देने की साज़िश है। जब सरमाया ही नहीं होगा, तो बस्तियों में दौलत कैसे आएगी? और जब दौलत नहीं आएगी, तो हमारे बच्चे आला तालीम कैसे हासिल करेंगे?

इस कशमकश का सबसे खौफनाक और दिल दहला देने वाला पहलू मुल्क की जेलों से सामने आता है। जब गुरबत और बेरोज़गारी अपने चरम पर होती है, तो उसके नतीजे में कई सामाजिक बुराइयां पैदा होती हैं। लेकिन मुसलमानों के मामले में यह कहानी सिर्फ़ जुर्म और सज़ा तक महदूद नहीं है। नेशनल क्राइम रिकार्ड्स ब्यूरो, जो मुल्क भर के जरायम और जेलों का पक्का सरकारी हिसाब रखता है, उसकी रिपोर्टें जब हम पढ़ते हैं तो रूह कांप जाती है। इन दस्तावेज़ों के मुताबिक़, मुल्क की जेलों में बंद कैदियों में मुसलमानों की तादाद उनकी आबादी के तनासुब से कहीं ज़्यादा है। और इनमें सबसे बड़ी तादाद उन लोगों की है जिन्हें 'अंडरट्रायल' कहा जाता है, यानी वो लोग जिन पर अभी तक कोई जुर्म साबित नहीं हुआ है, लेकिन फिर भी वो सालों से सलाखों के पीछे अपनी जवानी गला रहे हैं।

ज़रा उस माँ के दिल का हाल पूछिए जिसका नौजवान बेटा किसी सुबह काम की तलाश में घर से निकलता है, लेकिन शाम को लौट कर नहीं आता। रात को पता चलता है कि पुलिस ने उसे किसी झूठे या मामूली इल्ज़ाम में उठा लिया है। अब शुरू होती है उस खानदान की असली तबाही। वो बाप जो दिन भर में बमुश्किल पांच सौ रुपये कमाता है, वो अदालतों, वकीलों और थानों के चक्कर काटने पर मजबूर हो जाता है। पुलिस का खौफ़ और अदालत की तारीखें उस खानदान की बची-खुची माशी हैसियत को भी निचोड़ लेती हैं। घर के बर्तन बिक जाते हैं, माँ की आखिरी बालियां गिरवी रख दी जाती हैं, लेकिन वो बेगुनाह बेटा सालों तक जेल से बाहर नहीं आ पाता। नेशनल क्राइम रिकार्ड्स ब्यूरो के आंकड़े गवाह हैं कि कई मामलों में मुसलिम नौजवान दस-दस या पंद्रह-पंद्रह साल जेल में गुज़ारने के बाद अदालत से बा-इज़्ज़त बरी कर दिए जाते हैं, क्योंकि उनके खिलाफ़ कोई सबूत नहीं मिलता। लेकिन वो बा-इज़्ज़त बरी होना किस काम का? अदालत उन्हें आज़ाद तो कर देती है, लेकिन वो पंद्रह साल जो जेल की अंधेरी कोठरी में गुज़र गए, वो कौन वापस करेगा? जब वो नौजवान बाहर आता है, तो उसका बाप मर चुका होता है, उसकी माँ की आँखों की रौशनी जा चुकी होती है, और दुनिया बहुत आगे निकल चुकी होती है। वो अपनी ही बस्ती में एक अजनबी बन जाता है। इस खौफ़ ने हमारी क़ौम के नौजवानों के दिलों में ऐसा डेरा जमा लिया है कि वो अब अपने हक़ के लिए आवाज़ उठाने से भी डरते हैं।

उन्हें लगता है कि अगर उन्होंने पुलिस या निज़ाम से कोई सवाल किया, तो उन्हें भी किसी इल्ज़ाम में अंदर डाल दिया जाएगा। इसी ख़ौफ़ ने हमारे नौजवानों की सलाहियतों और उनकी बगावती सोच को मुकम्मल तौर पर कुचल कर रख दिया है।

इस गुरबत और ख़ौफ़ का सीधा असर हमारी सेहत और हमारी ज़िंदगी की मुद्दत पर भी पड़ रहा है। नेशनल सैंपल सर्वे ऑफिस के सेहत से जुड़े आंकड़े एक और भयानक हकीकत बयान करते हैं। आज मुसलिम बस्तियों में रहने वाले लोग उन बीमारियों से मर रहे हैं जिनका इलाज मुमकिन है। टीबी, दमा, कुपोषण और गंदे पानी से होने वाली बीमारियां हमारी बस्तियों में आम हैं। एक आम ग़रीब मुसलमान अपनी आमदनी का एक बहुत बड़ा हिस्सा सिर्फ़ दवाइयों और इलाज पर खर्च कर देता है।

ज़रा सोचिए, जिस घर में दो वक़्त की रोटी का इंतज़ाम मुश्किल से होता हो, अगर वहां कोई बड़ी बीमारी आ जाए तो क्या होता है? सरकारी अस्पतालों में उन्हें घंटों लाइन में खड़ा रखा जाता है, और अक्सर वहां डॉक्टरों का रवैया भी उनके साथ सौतेला होता है। प्राइवेट अस्पतालों का खर्च वो उठा नहीं सकते। नतीजा यह होता है कि वो अपनी किस्मत से समझौता कर लेते हैं। बच्चे कुपोषण का शिकार होकर कमज़ोर रह जाते हैं, और हमारे नौजवान बहुत कम उम्र में ही बुढ़ापे की बीमारियों का शिकार हो जाते हैं। सेहत की यह पसमांदगी उन्हें माशी तौर पर और भी कमज़ोर कर देती है, क्योंकि एक बीमार इंसान न तो मज़दूरी कर सकता है और न ही अपना कोई कारोबार चला सकता है। यह तमाम सरकारी आंकड़े, चाहे वो जेलों के हों, बैंकों के हों, तालीम के हों या सेहत के, ये सब आपस में एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। यह दरअसल गुरबत और ख़ौफ़ का वो मकड़जाल है जिसे निज़ाम ने बहुत बारीकी से हमारे इर्द-गिर्द बुना है और हमने अपनी ग़फ़लत से उसे और मज़बूत किया है। जब एक बच्चा ख़ौफ़ और ग़रीबी के इस साये में पैदा होता है, तो वो बचपन से ही यह मान लेता है कि उसे इस मुल्क में बराबरी का कोई हक़ नहीं मिलने वाला। उसकी नज़्मियात में यह बात बैठ जाती है कि वो दूसरे दर्जे का शहरी है।

और जब कोई क़ौम नज़्मियाती तौर पर हार मान लेती है, तो उसे हराने के लिए किसी तलवार या तोप की ज़रूरत नहीं पड़ती, वो खुद-ब-खुद ज़मीन में धंसने लगती है।

हमारे रहनुमाओं ने हमें जज़्बाती तकरीरें तो बहुत सुनाईं। उन्होंने हमें यह तो बताया कि हमारे आबा-ओ-अजदाद ने इस मुल्क पर हुकूमत की थी, लेकिन उन्होंने हमें यह कभी नहीं बताया कि नेशनल क्राइम रिकार्ड्स ब्यूरो के रजिस्टर में हमारे नौजवानों के नाम किस तेज़ी से दर्ज़ हो रहे हैं। उन्होंने हमें मस्जिदों के मिनारों की ऊंचाई पर तो फ़ख़्र करना सिखाया, लेकिन उन्होंने हमें कभी यह नहीं बताया कि मुल्क की अर्थव्यवस्था में हमारा हिस्सा कितना सिकुड़ चुका है। एक आम मुसलमान की यह जद्दोज़हद दरअसल एक ऐसी नाव की जद्दोज़हद है जो तूफ़ान में फंसी है और जिसके मल्लाहों ने उसे भगवान के भरोसे छोड़ दिया है।

लेकिन हमें इस हक़ीक़त का सामना करना ही होगा। हम सिर्फ़ हुकूमत को कोस कर या इन आंकड़ों को झुठला कर अपनी ज़िम्मेदारी से भाग नहीं सकते। ये दस्तावेज़ इस बात का सुबूत हैं कि अब हम उस मुक़ाम पर आ खड़े हुए हैं जहाँ से नीचे सिर्फ़ और सिर्फ़ मुकम्मल तबाही है। अगर आज हमने इस ख़ौफ़ को अपने दिलों से नहीं निकाला, अगर आज हमने अपनी पाई-पाई जोड़कर अपने बच्चों को तालीम और सेहतमंद माहौल नहीं दिया, तो ये सरकारी आंकड़े आने वाले कल में हमारी क़ौम का आखिरी मरसिया साबित होंगे।

यह बाब हमारी उस आखिरी सिसकी की दास्तान है जो एक ग़रीब मुसलिम घर के बंद दरवाज़े के पीछे रोज़ गूँजती है। यह उन बेगुनाह आंसुओं का हिसाब है जो अदालतों की सीढ़ियों पर गिरे हैं। और यह उस बेबसी का दस्तावेज़ है जिसने हमारी जवानी को बुढ़ापे में तब्दील कर दिया है। आज़ादी के बाद की इन तमाम कड़वी हक़ीक़तों और दस्तावेज़ी शहादतों ने हमारे सामने हमारा वह चेहरा पेश कर दिया है जो खून और आंसुओं से सना हुआ है। लेकिन क्या यह इस किताब का और हमारी क़ौम का आखिरी पन्ना है? क्या हम इसी ग़ुरबत और ख़ौफ़ में घुट-घुट कर मर जाएंगे? हरगिज़ नहीं।

ज़िंदा क्रौमें जब रसातल में गिरती हैं, तो वहीं से उनके उरूज़ का नया रास्ता भी निकलता है। हमने अपने ज़वाल को देख लिया, हमने अपनी ग़लतियों को पहचान लिया और हमने इन सरकारी आंकड़ों की कड़वाहट को भी पी लिया। अब वक़्त आ गया है कि हम अपनी दिशा बदलें। अब वक़्त है उन रास्तों की तलाश का जो हमें इस दलदल से निकाल कर उस आज़ाद और खुशहाल मुस्तक़बिल की तरफ़ ले जाएं जिसका ख़्वाब आज़ादी की तहरीक में हमारे बुज़ुर्गों ने देखा था।

और इसी उम्मीद, इसी नए अज़म और मुस्तक़बिल की इसी मंसूबा-बंदी का आगाज़ हम इस किताब के तीसरे और आखिरी हिस्से में करेंगे। वहाँ हम रोएंगे नहीं, शिकायतें नहीं करेंगे, बल्कि हम बात करेंगे 'आगे के रास्ते' की। हम उन मज़बूत और ठोस हलों की बात करेंगे जो जदीद तालीम, हुनरमंदी, माशी आज़ादी और सियासी शऊर से होकर गुज़रते हैं। हम देखेंगे कि एक नई सुबह की तलाश महज़ एक ख़्वाब नहीं, बल्कि हमारे अपने हाथों से लिखी जाने वाली कल की हकीक़त है।

“तीसरा हिस्सा: मुस्तक़बिल का खाका – आगे का रास्ता और मंसूबा-बंदी”

बाब 11: असरी और दीनी तालीम का तवाज़ुन: वक़्त की सबसे बड़ी पुकार

रात चाहे कितनी भी काली, कितनी भी खौफनाक और कितनी भी लंबी क्यों न हो, उसकी मुक़द्दर में आखिरकार सुबह की पहली आज़ान के साथ रौशन होना लिखा ही है। पिछले हिस्सों में हमने अपने ज़रख़्मों को उधेड़ कर देखा। हमने उन कड़वी और रुला देने वाली हक़ीक़तों का सामना किया जिन्होंने हमें आज इस मुफ़लिसी और पस्ती के गढ़े में धकेल दिया है। हमने सरकारी कागज़ों में अपनी बर्बादी के वो सुबूत देखे जिन्हें देखकर किसी भी ज़िंदा क़ौम का लहू खौल उठना चाहिए। लेकिन अगर हम सिर्फ़ अपने ज़रख़्मों को सहलाते रहें और अफ़सोस के आँसू बहाते रहें, तो यह किताब लिखने का मक़सद ही फ़ौत हो जाएगा। रोने और शिकायतें करने का वक़्त अब मुकम्मल तौर पर ख़त्म हो चुका है। अब वक़्त है उस मरहम को तलाश करने का जो इन ज़रख़्मों को भर सके। अब वक़्त है एक ऐसे मुस्तक़बिल का खाका खींचने का, जो जज़्बातों और खोखले नारों पर नहीं, बल्कि ज़मीनी हक़ीक़त, पक्की मंसूबा-बंदी और एक रोशन उम्मीद पर खड़ा हो। इस तीसरे और आखिरी हिस्से में हम कोई हवा-हवाई बातें नहीं करेंगे। हम बात करेंगे उन रास्तों की जिन पर चलकर एक आम ग़रीब इंसान भी अपने घर की तस्वीर बदल सकता है। और इस नए सफ़र, इस नई सुबह की सबसे पहली और सबसे मज़बूत सीढ़ी है—तालीम। लेकिन कैसी तालीम? यही वो सबसे बड़ा और उलझा हुआ सवाल है जिसने हमारी क़ौम को दो अलग-अलग रास्तों पर बाँट कर रख दिया है। एक रास्ता मदरसों की तरफ़ जाता है जिसे हम दीनी तालीम कहते हैं, और दूसरा रास्ता स्कूलों और यूनिवर्सिटीज़ की तरफ़ जाता है जिसे हम असरी या दुनियावी तालीम कहते हैं। सदियों से हमने इन दोनों तालीमों को एक दूसरे का दुश्मन मान लिया है। हमारे समाज में यह एक बहुत गहरी ग़लतफ़हमी बैठ गई है कि जो बच्चा क़ुरान पढ़ेगा, वो साइंस नहीं पढ़ सकता, और जो बच्चा कंप्यूटर या साइंस पढ़ेगा, वो अपने दीन से दूर हो जाएगा।

इस बेबुनियाद और खतरनाक सोच ने हमारी क़ौम का जितना नुकसान किया है, उतना शायद किसी और साज़िश ने नहीं किया। आज़ाद और आबाद मुस्तक़बिल का सबसे पहला और सबसे ज़रूरी हल यही है कि हमें इन दोनों रास्तों को मिलाकर एक करना होगा। दीनी और दुनियावी तालीम के बीच एक ऐसा तवाज़ुन यानी बैलेंस बनाना होगा, जो आज के वक़्त की सबसे बड़ी पुकार है।

ज़रा सोचिए, दीन का असल पैग़ाम क्या था? हमारे नबी पर जो सबसे पहली वही नाज़िल हुई, वो इक़रा थी, जिसका मतलब है 'पढ़ो'। उस पैग़ाम में कहीं यह नहीं लिखा था कि सिर्फ़ मज़हब की किताबें पढ़ो और दुनिया के इल्म से आँखें मूँद लो। क़ुरान हमें बार-बार दावत देता है कि आस्मानों की तरफ़ देखो, सितारों की गर्दिश पर ग़ौर करो, ज़मीन की पैदाइश और पहाड़ों की बनावट को समझो। अब आप ही बताइए, आस्मानों और सितारों की गर्दिश को कोई शख्स बिना साइंस, बिना फ़िज़िक्स और बिना रियाज़ी यानी गणित के कैसे समझ सकता है? हमारे जो आबा-ओ-अजदाद थे, जिन्होंने स्पेन से लेकर बग़दाद तक दुनिया पर हुकूमत की, वो सिर्फ़ इसलिए हुक्मरान नहीं थे कि वो इबादत गुज़ार थे, बल्कि वो इसलिए भी अज़ीम थे क्योंकि वो दुनिया के सबसे बेहतरीन सर्जन, सबसे बड़े कीमियागर और सबसे माहिर साइंसदां थे। अल-ख़वारिज़्मी, इब्न सिना और अल-बरूनी जैसे अज़ीम लोगों ने कभी अपने दीन और अपनी साइंस के बीच कोई दीवार खड़ी नहीं की। आज हमें उसी माज़ी की उस शानदार सोच को वापस अपनी बस्तियों में लाना होगा। ग्राउंड लेवल पर यानी ज़मीनी सतह पर हमें क्या बदलाव लाने हैं, आइए इस पर तफ़्सील से और बहुत ही आसान लफ़्ज़ों में बात करते हैं। सबसे पहला बदलाव हमें अपने मदरसों और मकातिब के निज़ाम में लाना होगा। मदरसों ने हमारे दीन को महफूज़ रखने में जो कुर्बानियां दी हैं, उनका एहसान कोई नहीं चुका सकता। जब भी इस मुल्क में आज़ादी की या ईमान बचाने की बात आई, मदरसों ने हमेशा रहनुमाई की। लेकिन आज हालात बदल चुके हैं। आज का जो नौजवान मदरसे से हाफ़िज़ या आलिम बनकर निकलता है, उसके पास समाज को देने के लिए मज़हबी रहनुमाई तो होती है, लेकिन जब बात उसके अपने रोज़गार की आती है, तो उसके सामने दरवाज़े बंद होते हैं।

उसे समझ नहीं आता कि वो इस तेज़ी से बदलती हुई मशीनी दुनिया में अपनी रोज़ी-रोटी कैसे कमाए। नतीजा यह होता है कि वो मुफ़लिसी की ज़िंदगी गुज़ारने पर मजबूर हो जाता है या फिर चंद चंदे के पैसों पर उसका घर चलता है। क्या एक आलिम की इज़्ज़त इसी में है कि वो दूसरों का मोहताज़ रहे? हरगिज़ नहीं। ज़मीनी सतह पर इसका हल यह है कि हमें अपने मदरसों के निसाब यानी सिलेबस को इस तरह ढालना होगा कि दीनी तालीम के साथ-साथ वहाँ जदीद दुनियावी तालीम भी लाज़मी हो। कोई भी बच्चा अगर क़ुरान हिफ़्ज़ कर रहा है, तो उसके लिए लाज़मी हो कि वो सुबह के वक़्त क़ुरान पढ़े और दोपहर के वक़्त साइंस, गणित और कंप्यूटर की तालीम हासिल करे। जब वो मदरसा छोड़कर निकले, तो उसके हाथ में सिर्फ़ मदरसे की सनद न हो, बल्कि उसके पास दसवीं या बारहवीं जमात की ऐसी सरकारी डिग्री भी हो जिससे वो चाहे तो आगे चलकर किसी कॉलेज में दाखिला ले सके।

हमें अपनी बस्तियों में ऐसे निज़ाम खड़े करने होंगे जहाँ मदरसों को बाक्रायदा ओपन स्कूलों और नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ़ ओपन स्कूलिंग के साथ जोड़ा जाए। यह कोई नामुमकिन काम नहीं है। आज मुल्क में कई ऐसे मदरसे काम कर रहे हैं जिन्होंने अपने बच्चों को दीनी तालीम के साथ-साथ हुनरमंदी और साइंस भी पढ़ाई है, और आज उनके बच्चे बड़ी-बड़ी कंपनियों में और सरकारी ओहदों पर अपनी जगह बना रहे हैं। हमें हर मोहल्ले के मदरसे को महज़ चंदे का मरकज़ बनाने के बजाय एक मुकम्मल तालीमी मरकज़ में तब्दील करना होगा। मस्जिद के इमाम साहब को भी अब सिर्फ़ नमाज़ पढ़ाने तक महदूद नहीं रहना होगा, बल्कि उन्हें मोहल्ले के बच्चों के लिए एक रहनुमा, एक करियर काउंसलर का किरदार अदा करना होगा। जब एक हाफ़िज़-ए-क़ुरान किसी बड़े अस्पताल का डॉक्टर बनकर निकलेगा या किसी मल्टीनेशनल कंपनी में कंप्यूटर इंजीनियर बनकर बैठेगा, तो उसके हुस्न-ए-अखलाक़ और उसकी ईमानदारी से दीन की जो इज़्ज़त बढ़ेगी, वो हज़ारों तक्ररीरों से भी नहीं बढ़ सकती। दूसरा बड़ा और बुनियादी हल हमारी आम स्कूलों की तालीम और हुनरमंदी यानी स्किल डेवलपमेंट को लेकर है। हमने पिछले बाबों में देखा कि हमारे नौजवान बीच में ही पढ़ाई छोड़कर रिक्शा चलाने या पंचर बनाने पर मजबूर हो जाते हैं। इसका हल सिर्फ़ डिग्रियां बांटना नहीं है।

आज के कॉर्पोरेट बाज़ार को सिर्फ़ डिग्रियों की ज़रूरत नहीं है, बल्कि उन्हें हुनर चाहिए। अगर किसी के पास बीए या एमए की डिग्री है लेकिन उसे कंप्यूटर चलाना नहीं आता, उसे अच्छे से बात करना नहीं आता, तो वो बाज़ार में बेरोज़गार ही घूमेगा। इसलिए हमें तालीम के साथ-साथ हुनरमंदी को अपनी ज़िंदगी का सबसे अहम हिस्सा बनाना होगा।

ज़मीनी सतह पर हमें क्या करना चाहिए? हर मोहल्ले, हर बस्ती और हर मस्जिद की कमेटियों को यह ज़िम्मेदारी लेनी होगी कि वो अपनी इमारतों में या किसी खाली जगह पर छोटे-छोटे स्किल डेवलपमेंट सेंटर यानी हुनर सिखाने के मरकज़ कायम करें। जो नौजवान अपनी पढ़ाई पूरी नहीं कर पाए, उन्हें मायूस होकर गली के नुक्कड़ पर बैठने के बजाय इन सेंटरों में लाया जाए। आज का दौर नई तकनीक, मोबाइल रिपेयरिंग, डेटा एंट्री, ग्राफ़िक डिज़ाइनिंग, और इलेक्ट्रीशियन जैसे जदीद हुनर का दौर है। अगर हम अपनी बस्तियों में चंद पुराने कंप्यूटर रखकर बच्चों को बेसिक कोडिंग और कंप्यूटर की ज़बान सिखाना शुरू कर दें, तो यही बच्चे कल को इंटरनेट के ज़रिये घर बैठे दुनिया की बड़ी कंपनियों के लिए काम कर सकते हैं। इसके लिए कोई बहुत बड़ी यूनिवर्सिटी बनाने की ज़रूरत नहीं है। मोहल्ले के जो चंद पढ़े-लिखे नौजवान हैं, वो अपना थोड़ा वक़्त निकालकर इन कमज़ोर और ग़रीब बच्चों को हुनर सिखा सकते हैं।

हमें अपनी सोच का दायरा बढ़ाना होगा। जब कोई ग़रीब बाप अपने बेटे को किसी मोटर गैराज पर काम सीखने भेजता है, तो हमें उसे रोकना नहीं है, बल्कि उस बाप को यह समझाना है कि तुम्हारा बच्चा हाथ का काम तो सीखे, लेकिन साथ ही रात के वक़्त किसी नाइट स्कूल या ऑनलाइन क्लास के ज़रिये अपनी तालीम भी जारी रखे। ताकि कल को वो सिर्फ़ एक मैकेनिक बनकर न रह जाए, बल्कि अपनी एक बड़ी वर्कशॉप का मालिक बन सके। हुनर और तालीम जब आपस में मिलते हैं, तो इंसान मज़दूर से मालिक बन जाता है। हमारी पूरी जद्दोज़हद इसी बात के लिए होनी चाहिए कि हमें मज़दूर पैदा करने वाली मशीन नहीं, बल्कि अकलमंद और हुनरमंद मालिक पैदा करने हैं।

अब सवाल यह पैदा होता है कि इन सब चीज़ों के लिए पैसा कहाँ से आएगा? मदरसों में कंप्यूटर लगाने, मोहल्लों में हुनरमंदी के मरकज़ खोलने और गरीब बच्चों की आला तालीम की फ़ीस भरने के लिए जो सरमाया चाहिए, वो कोई आस्मान से तो नहीं गिरेगा। और ना ही हमें हुकूमत के आगे भीख मांगने की ज़रूरत है। इसका सबसे बेहतरीन और प्रैक्टिकल हल हमारे अपने अंदर मौजूद है। यह हल है—माइक्रो फाइनेंस और हमारे अपने क़ौमी सरमाये का सही इस्तेमाल।

इस मुल्क में मुसलमान हर साल करोड़ों-अरबों रुपये की ज़कात, सदका और ख़ैरात निकालते हैं। यह एक बहुत बड़ा सरमाया है जो अल्लाह ने हमें ग़रीबी और मुफ़लिसी से लड़ने के लिए दिया है। लेकिन हमारा अलमिया यह है कि यह पैसा बिना किसी मंसूबा-बंदी के इधर-उधर बाँट दिया जाता है, जिससे किसी एक इंसान की भी मुस्तक़िल ग़रीबी दूर नहीं होती। एक ग़रीब को आप सौ रुपये दे दें, वो आज खाना खा लेगा, लेकिन कल वो फिर भूखा होगा। इसके बरअक्स, अगर हम अपनी ज़कात और ख़ैरात का एक बड़ा हिस्सा एक बाक़ायदा तालीमी फंड या एजुकेशन ट्रस्ट बनाने में लगा दें, तो हम पूरी क़ौम की तक़दीर बदल सकते हैं। ज़मीनी हक़ीक़त में इसे इस तरह लागू किया जा सकता है कि शहर के समझदार, ईमानदार और पढ़े-लिखे लोग मिलकर एक छोटी सी कमेटी बनाएं। उस कमेटी का काम यह हो कि वो बस्ती के हर घर से हर महीने सिर्फ़ पचास या सौ रुपये इकट्ठा करे। अगर एक बस्ती में हज़ार घर हैं और हर घर सौ रुपये देता है, तो एक लाख रुपये हर महीने इकट्ठा हो सकते हैं। इस एक लाख रुपये से माइक्रो फाइनेंस के उसूलों पर काम किया जा सकता है। यानी इस पैसे से मोहल्ले के किसी ग़रीब होनहार बच्चे की इंजीनियरिंग या मेडिकल की फ़ीस भरी जा सकती है। यह पैसा उस बच्चे को ख़ैरात के तौर पर नहीं, बल्कि एक बिना सूद के कर्ज़ यानी कर्ज़-ए-हसना के तौर पर दिया जाए। जब वो बच्चा चार साल बाद डॉक्टर या इंजीनियर बनकर कमाने लगे, तो वो आहिस्ता-आहिस्ता यह पैसा वापस उस फंड में लौटा दे, ताकि फिर किसी दूसरे ग़रीब बच्चे की मदद हो सके। इसी माइक्रो फाइनेंस के ज़रिये हम अपने उन नौजवानों को भी सरमाया फ़राहम कर सकते हैं जो अपना कोई छोटा कारोबार शुरू करना चाहते हैं, और जिन्हें बैंक कर्ज़ नहीं देते।

अगर किसी नौजवान को अपना कोई डिज़ाइनिंग का काम शुरू करना है या उसे एक सिलाई मशीन खरीदनी है, तो मोहल्ले का यह फंड उसे बिना ब्याज के पैसे दे सकता है। इससे दो फ़ायदे होंगे—एक तो हमारा नौजवान सूद जैसी हराम और तबाहकुन चीज़ से बच जाएगा, और दूसरा हमारी बस्ती का पैसा हमारी अपनी बस्ती की तरक्की में लगेगा। यह कोई ख़याली पुलाव नहीं है। मुल्क के कई हिस्सों में, ख़ासतौर पर जनूबी हिंदुस्तान यानी साउथ इंडिया में कई तंज़ीमें इस तरह के माइक्रो फाइनेंस और तालीमी फंड्स को बहुत कामयाबी के साथ चला रही हैं। हमें इसी मॉडल को उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल और हर उस सूबे में लागू करना होगा जहाँ हमारी आबादी गुरबत की चक्की में पिस रही है। इस पूरे मुस्तक़बिल के ख़ाके में औरतों और बच्चियों का किरदार सबसे अहम है। हम दुनिया की कोई भी तरक्की उस वक़्त तक हासिल नहीं कर सकते जब तक हमारी क़ौम की आधी आबादी घर की चारदीवारी में अनपढ़ बनकर बैठी रहे। हमें अपनी बेटियों को भी उसी शिद्दत और उसी फ़िक्र के साथ तालीम देनी होगी जिस फ़िक्र के साथ हम बेटों को देते हैं। दीनी तालीम बच्चियों के लिए लाज़मी है ताकि वो एक बेहतरीन और बा-अख़लाक़ इंसान बनें, लेकिन साथ ही उन्हें दुनियावी तालीम और नए हुनर से भी आज़ाद और आबाद करना होगा। अगर कोई बच्ची बाहर जाकर नहीं पढ़ सकती, तो आज इंटरनेट और ऑनलाइन तालीम का दौर है। उन्हें घर बैठे ग्राफ़िक डिज़ाइनिंग, कंटेंट राइटिंग, सिलाई और कढ़ाई के जदीद तरीक़े सिखाए जा सकते हैं ताकि वो घर की चारदीवारी में पूरे वक़ार और इज़्ज़त के साथ अपना और अपने खानदान का माशी बोझ उठा सकें। एक तालीमयाफ़्ता माँ ही दरअसल वो यूनिवर्सिटी होती है जहाँ से एक शानदार नस्ल जन्म लेती है। आज वक़्त की सबसे बड़ी पुकार यही है कि हमें अपने ख़ौफ़ के खोल से बाहर आना होगा। आज़ादी के बाद से हमने जो एक मज़लूमियत की चादर ओढ़ रखी है, उसे अब उतार फेंकने का वक़्त आ गया है। हुकूमतें वही करती हैं जो सियासत का तक्राज़ा होता है, लेकिन क़ौमों वो करती हैं जो उनकी बक्रा का तक्राज़ा होता है। हमें अपने आप को इस क़ाबिल बनाना है कि निज़ाम हमारी अनदेखी न कर सके। और इसका वाहिद रास्ता यह है कि हम मुल्क के हर दफ़्तर, हर सनअत और हर इदारे में अपने हुनर और अपनी तालीम की वजह से इतने अहम हो जाएं कि हमारे बिना मुल्क की तरक्की का पहिया ही न चल सके।

एक आम इंसान को आज क्या करना है? अगर आप एक बाप हैं, तो आज से ही यह अहद कर लें कि चाहे आप खुद आधी रोटी खाएंगे, फटे कपड़े पहनेंगे, लेकिन अपने बच्चों को दुनिया की बेहतरीन तालीम दिलाएंगे। उन्हें सिर्फ़ रट्टा मारने वाली पढ़ाई नहीं, बल्कि चीज़ों को समझने, सोचने और सवाल पूछने की आज़ादी देंगे। अगर आप एक नौजवान हैं, तो अपनी जवानी को चौराहों पर गपशप करने या मोबाइल में वक्रत बर्बाद करने में मत लगाइए। अपने अंदर कोई ऐसा हुनर पैदा कीजिए जिसकी आज के बाज़ार को ज़रूरत हो। अगर आप एक ताजिर या कारोबारी हैं, तो सिर्फ़ अपनी तिजोरियां मत भरिए, बल्कि अपनी आमदनी का एक हिस्सा किसी गरीब बच्चे की तालीम के लिए वक्रफ़ कर दीजिए। और अगर आप किसी मस्जिद के इमाम या मज़हबी रहनुमा हैं, तो अपने मिम्बर से अवाम को सिर्फ़ आखिरत के ख़ौफ़ से मत डराइए, बल्कि उन्हें इस दुनिया में इज़्ज़त के साथ जीने का वो हुनर भी सिखाइए जिसका हुक्म हमारे दीन ने दिया है।

असरी और दीनी तालीम का यह तवाज़ुन दरअसल वो आखिरी उम्मीद है जो हमें इस अँधेरी ग़ार से बाहर निकाल सकती है। यह वो मंसूबा है जिसे हमें अपने गली-मोहल्लों से शुरू करना है। हमें बड़े-बड़े मुजाहिरोँ या सियासी रैलियों की ज़रूरत नहीं है। हमें ज़रूरत है खामोशी के साथ अपने घरों, अपनी मस्जिदों और अपनी बस्तियों में तालीम और हुनरमंदी का इंकलाब लाने की। जब हर घर में एक तालीमयाफ़्ता बच्चा होगा, जब हर नौजवान के हाथ में कोई हुनर होगा, और जब हमारी ज़कात का पैसा हमारी तालीमी तरक्क़ी का ज़रिया बनेगा, तो फिर कोई सर्वे, कोई रिपोर्ट और कोई भी सरकारी आंकड़ा हमें मुफ़लिस और पिछड़ा हुआ साबित नहीं कर सकेगा।

यही वो उम्मीद से भरा हुआ रास्ता है जो प्रैक्टिकली मुमकिन है। इसमें न कोई जादू है और न ही कोई रातों-रात होने वाला चमत्कार। यह खून-पसीने और बरसों की मेहनत की मांग करता है। लेकिन यक़ीन मानिए, जब यह मेहनत रंग लाएगी, तो जो सुबह तुलू होगी, वह इतनी रौशन और इतनी मुकम्मल होगी कि माज़ी का सारा दर्द, सारे ज़ख़्म और सारी ग़ुरबत उस रौशनी में हमेशा के लिए धुल जाएंगे। और इसी तालीमी बेदारी और हुनरमंदी के बाद एक क़ौम माशी तौर पर आज़ाद कैसे होती है, अपने छोटे कारोबारों और तिजारत को कैसे परवान चढ़ाती है, इस ख़ाके का अगला और बहुत अहम हिस्सा हम अगले बाब में तफ़्सील से बयान करेंगे।

बाब 12: माशी खुद कफ़ालत: छोटे कारोबार, तिजारत और नए तरीक़े

ज़िंदगी में जब तमाम दरवाज़े बंद होते हुए नज़र आएँ, जब निज़ाम आपका साथ छोड़ दे, और जब डिग्रियां हाथों में होने के बावजूद सरकारी दफ्तरों से आपको खाली हाथ लौटा दिया जाए, तो इंसान के पास सिर्फ़ दो रास्ते बचते हैं। या तो वह हालात के सामने घुटने टेक दे और अपनी आने वाली नस्लों को भी उसी मुफ़लिसी में जीने के लिए छोड़ दे, या फिर वह अपने हाथों से अपनी तक़दीर का एक नया दरवाज़ा तराशे। पिछले बाबों में हमने देखा कि किस तरह हमें सरकारी नौकरियों और बड़े इदारों से आहिस्ता-आहिस्ता बेदखल कर दिया गया। तालीम का जो अज़ाब हमने साहा, उसने हमारी माशी कमर तोड़ दी। लेकिन क्या हम इसी मातम में अपनी पूरी उम्र गुज़ार देंगे? हरगिज़ नहीं।

ज़िंदा क़ौम हमेशा राख से दोबारा उठने का हुनर जानती हैं। और हमारे पास तो वह अज़ीम माज़ी मौजूद है जहाँ हमारे नबी ने और उनके साथियों ने हमें तिजारत और कारोबार का वह शानदार रास्ता दिखाया है, जिसने सदियों तक दुनिया की माईशत यानी अर्थव्यवस्था पर राज किया है। तिजारत सिर्फ़ पैसा कमाने का ज़रिया नहीं है, बल्कि यह वह सुन्नत है जो इंसान को किसी का मोहताज नहीं होने देती। आज़ाद हिंदुस्तान में आज हमारी बक्रा, हमारी इज़ज़त और हमारी आज़ादी का वाहिद रास्ता ‘माशी खुद कफ़ालत’ यानी आर्थिक आत्मनिर्भरता है। हमें नौकरी मांगने वालों की कतार से निकलकर, रोज़गार देने वालों की सफ में खड़ा होना होगा।

ज़मीनी सतह पर इस बदलाव की शुरुआत कैसे होगी? हमें सबसे पहले अपनी सोच को बदलना होगा। हमारे समाज में एक बहुत बड़ा तबका ऐसा है जो सोचता है कि इज़ज़त सिर्फ़ किसी सरकारी दफ्तर की कुर्सी पर बैठकर ही मिलती है। अगर कोई नौजवान अपना कोई छोटा सा कारोबार शुरू करता है, तो उसे अक्सर हिकारत की नज़र से देखा जाता है। हमें इस ज़हरीली सोच को अपने मोहल्लों से जड़ से उखाड़ फेंकना होगा। जो हाथ मेहनत करके अपना हलाल रिज़क़ कमाता है, उससे ज़्यादा बा-इज़ज़त इंसान इस दुनिया में कोई और नहीं हो सकता।

आज के दौर में जब दुनिया मुट्ठी में आ चुकी है, तो कारोबार करने के तरीके भी पूरी तरह बदल गए हैं। हमें अपने पुराने और रिवायती ढांचों से बाहर निकलना होगा। हमारी बस्तियों में आज भी वही पुरानी दुकानें हैं, वही पुराना हिसाब-किताब का तरीका है, और वही पुरानी सोच है कि बस दिन भर में घर का खर्च निकल आए तो काफी है। यह सोच हमें कभी आगे नहीं बढ़ने देगी। कारोबार को अब एक मंसूबा-बंदी, एक पक्के खाके और एक बड़े ख्वाब के साथ शुरू करने की ज़रूरत है।

मिसाल के तौर पर, आज के दौर में सेहत और दवाइयों का शोबा एक निहायत अहम और मुनाफ़े बख़्श कारोबार है। इंसान कपड़े पहनना कम कर सकता है, महंगे शौक छोड़ सकता है, लेकिन बीमारी में दवा लेना नहीं छोड़ सकता। फ़र्ज़ कीजिए कि कोई फ़िक्रमंद शख्स अपनी बस्ती में एक जदीद मेडिकल स्टोर या फार्मसी शुरू करने का मंसूबा बनाता है, जिसके लिए उसके पास तीस लाख रुपये के सरमाये का एक मज़बूत बजट मौजूद है। अब इस काम को पुराने और बेतरतीब अंदाज़ में नहीं किया जा सकता। इसके लिए एक मुकम्मल चेकलिस्ट और एक साफ़ रोडमैप की ज़रूरत होती है। सबसे पहले सही जगह का इंतेखाब, फिर दवाइयों का सरकारी लाइसेंस हासिल करना, दुकान का बेहतरीन इंटीरियर, और सबसे बढ़कर तमाम हिसाब-किताब और स्टॉक को सँभालने के लिए कंप्यूटर और नए सॉफ्टवेयर का इस्तेमाल। जब तीस लाख के बजट से ऐसी कोई शानदार फार्मसी किसी बस्ती में खुलती है, तो वह सिर्फ़ उस मालिक को आबाद नहीं करती, बल्कि वह वहां काम करने वाले चार और बेरोज़गार नौजवानों को भी इज़्ज़त की रोज़ी-रोटी देती है। अवाम को भी आधी रात को दवा के लिए दूर-दराज़ नहीं भटकना पड़ता। यही वह माशी खुद कफ़ालत है जो एक साथ पूरे समाज को फ़ायदा पहुँचाती है।

हमें अपने हर कारोबार में इसी तरह की मंसूबा-बंदी लानी होगी। अगर हमारा कोई नौजवान कपड़े का काम करता है, तो उसे सिर्फ़ फुटपाथ पर या किसी छोटी सी दुकान में सिमट कर नहीं रहना चाहिए। उसे नए दौर की तकनीक समझनी होगी। आज ई-कॉमर्स का दौर है।

जो कपड़ा वो अपनी दुकान पर बैठ कर दिन भर में दस लोगों को दिखाता है, वही कपड़ा वो इंटरनेट के ज़रिये पूरे मुल्क में हज़ारों लोगों तक पहुँचा सकता है। उसे पता होना चाहिए कि टैक्स का निज़ाम कैसे काम करता है, सरकारी कागज़ात कैसे पूरे किए जाते हैं और अपनी चीज़ की ब्रांडिंग कैसे की जाती है।

लेकिन यहाँ एक बहुत बड़ा सवाल खड़ा होता है कि हमारे नौजवानों के पास सरमाया यानी पैसा कहाँ से आएगा? जब बैंक हमें कर्ज़ देने से कतराते हैं, तो क्या हम हाथ पर हाथ धरे बैठे रहेंगे? इसका जवाब मैंने पिछले बाब में तालीमी फंड के हवाले से दिया था, और वही जवाब हमारे कारोबार के लिए भी सबसे बड़ी संजीवनी है—माइक्रो फाइनेंस और बगैर सूद का क़र्ज़।

हमें अपनी ही बस्तियों में ऐसे आज़ाद माशी निज़ाम खड़े करने होंगे जो हमारे नौजवानों को कारोबार शुरू करने के लिए सरमाया दे सकें। हमारी क़ौम के जो मालदार लोग हैं, जो बड़े ताजिर हैं, उन्हें आगे आना होगा। उन्हें अपनी दौलत को सिर्फ़ अपनी तिजोरियों या ज़मीनों में कैद करने के बजाय, उसे क़ौम के नौजवानों के हुनर पर लगाना होगा। हम शिराकत यानी पार्टनरशिप के इस्लाम के उस बेहतरीन उसूल को आज़मा सकते हैं जहाँ एक इंसान का पैसा हो और दूसरे इंसान की मेहनत।

सोचिए, अगर किसी मोहल्ले में कोई फंड हो जो एक ग़रीब नौजवान को एक लाख रुपये का क़र्ज़ दे, जिससे वह अपनी सिलाई मशीनों का एक छोटा सा कारख़ाना शुरू कर सके। वह नौजवान पूरी लगन से काम करेगा, क्योंकि उस पर सूद का कोई जानलेवा बोझ नहीं होगा। जब वह मुनाफ़ा कमाएगा, तो अपना क़र्ज़ वापस कर देगा, जिससे किसी और नौजवान की मदद हो सकेगी। यह माइक्रो फाइनेंस का मॉडल दुनिया के कई ग़रीब मुल्कों में इंकलाब ला चुका है, तो फिर हम इसे अपनी बस्तियों में क्यों लागू नहीं कर सकते? इसके साथ ही हमें हुनरमंदी और नई तकनीक को अपने कारोबार का हिस्सा बनाना होगा। हमारे कारीगर दुनिया का बेहतरीन काम करते हैं, चाहे वह मुरादाबाद का पीतल हो, भदोही का कालीन हो या अलीगढ़ के ताले हों। लेकिन हमारे कारीगर हमेशा मज़दूर क्यों रह जाते हैं?

क्योंकि वह अपने हुनर को बाज़ार में बेचना नहीं जानते। सारा मुनाफा बीच के बिचौलिए खा जाते हैं। हमें अपने नौजवानों को डिज़ाइनिंग, मार्केटिंग और बाज़ार की समझ सिखानी होगी। अगर एक बाप कारखाने में काम करता है, तो उसके पढ़े-लिखे बेटे को उस कारखाने के माल को सीधे बड़े बाज़ारों और इंटरनेट पर बेचने का हुनर आना चाहिए। जिस दिन हमारा मज़दूर और कारीगर अपना माल सीधे खरीदार को बेचना सीख जाएगा, उस दिन हमारी बस्तियों से गरीबी हमेशा के लिए विदा हो जाएगी।

एक और बहुत अहम बात जो ज़मीनी सतह पर हमें अपने कारोबार में लानी है, वह है ईमानदारी, साफ़-गोई और पक्के कागज़ात का इस्तेमाल। हमारे यहाँ अक्सर कारोबार जुबानी वादों पर होते हैं, और जब कोई नुकसान होता है तो रिश्ते टूट जाते हैं, मुकदमेबाज़ी होती है और कारोबार तबाह हो जाते हैं। हमें इस कच्चे काम को छोड़ना होगा। अगर आप अपने सगे भाई के साथ भी कारोबार कर रहे हैं, तो उसे पूरे क़ानूनी तरीक़े से कागज़ों पर लिख कर करें। जब हमारा निज़ाम पक्का होगा, हमारी नीयत साफ़ होगी और हमारे कागज़ात मुकम्मल होंगे, तो कोई भी हुकूमती निज़ाम या कोई भी बैंक हमें आगे बढ़ने से रोक नहीं सकेगा।

हम अक्सर अपनी औरतों को माशी तरक्की से दूर रखते हैं, जबकि आज़ादी से पहले और इस्लामी तारीख़ में औरतों ने बड़ी-बड़ी तिजारत की हैं। आज हमारी जो बहनें और बेटियां घरों में हैं, वो बहुत से ऐसे काम कर सकती हैं जो मुल्क की अर्थव्यवस्था में बड़ा योगदान दे सकते हैं। छोटे पैमाने पर कपड़े तैयार करना, जदीद डिज़ाइनिंग, ऑनलाइन बिज़नेस, यहाँ तक कि अच्छी तालीम हासिल करके मेडिकल और कंप्यूटर की दुनिया में आज़ाद सेवाएं देना—यह सब माशी आज़ादी का ही हिस्सा है। एक घर जहाँ एक कमाने वाला और दस खाने वाले हों, वह हमेशा गरीब रहेगा। लेकिन जिस घर में हर इंसान अपने हुनर के मुताबिक़ कुछ न कुछ कमा रहा हो, वह घर किसी सियासी या माशी तूफ़ान से नहीं डरेगा।

यह नया रास्ता किसी जादू की छड़ी से नहीं बनेगा। इसमें मेहनत है, नाकामी का डर भी है, और रातों की नींदें भी उड़ेंगी।

लेकिन जब एक बार कोई क्रौम अपना माशी ढांचा खुद खड़ा कर लेती है, तो वह सियासत के रहमो-करम पर ज़िंदा नहीं रहती। आज जो सियासतदान हमारे वोट लेकर हमें भूल जाते हैं, कल जब हमारे पास मज़बूत कारोबार होंगे, हमारे अपने अस्पताल और फार्मसीज़ होंगी, हमारे अपने कारखाने होंगे, तो वही सियासतदान हमारे दरवाज़ों पर आकर हमारी शर्ते मानने पर मजबूर होंगे। दौलत और माशी ताक़त दुनिया की सबसे बड़ी सियासत है।

इस मुस्तक्रबिल के खाके में ना-उम्मीदी की कोई जगह नहीं है। हाँ, रास्ते में कांटे बहुत हैं, लेकिन जब आप अपने हुनर और अपनी मेहनत के जूते पहन लेते हैं, तो कांटे आपका रास्ता नहीं रोक सकते। हमें अपने हर नौजवान के ज़हन में यह बात डालनी होगी कि वह नौकरी मांगने के लिए पैदा नहीं हुआ है, बल्कि वह अपनी क्रौम और अपने मुल्क को रोज़गार देने के लिए पैदा हुआ है।

माशी खुद कफ़ालत का यह सफ़र सिर्फ़ चंद रुपयों का सफ़र नहीं है, यह दरअसल हमारी खोई हुई इज़्ज़त, हमारे वक़्ार और हमारी आज़ादी को वापस हासिल करने का सफ़र है। और जब यह माशी ताक़त तालीम के साथ मिल जाती है, तो उसके नतीजे में वह सियासी शऊर और वह क्रौमी इत्तेहाद पैदा होता है जो किसी भी क्रौम को दुनिया की नज़रों में अज़ीम बना देता है। इसी सियासी शऊर, हुकूक की लड़ाई और अवामी मंसूबों से जुड़ने का जो आखिरी और सबसे अहम क़दम है, उसका खाका हम इस किताब के अगले बाबों में मुकम्मल करेंगे, ताकि जब कोई नौजवान इस किताब को बंद करे, तो उसके सामने अपनी मंज़िल का एक साफ़, रोशन और यक़ीनी रास्ता मौजूद हो।

बाब 13: सरकारी और फ़लाही मंसूबे: इनका सही फ़ायदा कैसे उठाया जाए?

जब कोई क्रौम लगातार मायूसी और ग़रीबी के थपेड़े खाती है, तो उसके अंदर एक बहुत ही ख़तरनाक नफ़्फ़िसियात पैदा हो जाती है। वह यह मान लेती है कि निज़ाम, सरकार और हुकूमत सिर्फ़ उन्हें दबाने के लिए हैं और वहाँ से उन्हें कभी कोई ख़ैर या फ़ायदा नहीं मिल सकता। यह सच है कि सियासत ने हमारे साथ कई बार सौतेला सुलूक किया है, लेकिन इसी सच के साए में पलने वाली हमारी एक बहुत बड़ी ग़लतफ़हमी ने हमारा उससे भी ज़्यादा नुक़सान किया है। आज़ाद हिंदुस्तान का आईन यानी संविधान हर शहरी को बराबरी का हक़ देता है। जो सरकारी खज़ाना है, वह किसी सियासतदान की जागीर नहीं है, बल्कि वह हमारे और आपके ख़ून-पसीने की कमाई और टैक्स से भरा जाता है। इसलिए, जब हुकूमत कोई फ़लाही मंसूबा यानी कोई कल्याणकारी योजना निकालती है, तो वह हमारा हक़ होता है, कोई भीख नहीं।

आज वक़्त की सबसे बड़ी पुकार यह है कि हम इस ख़ौफ़ और ग़फ़लत के खोल से बाहर आएँ। मुस्तक़बिल का सबसे अहम रोडमैप इसी बात पर टिका है कि हम अपने हक़ को पहचानें और सरकारी मंसूबों का सही फ़ायदा उठाना सीखें। ज़मीनी हक़ीक़त यह है कि सरकार की दर्जनों ऐसी योजनाएं हैं जो ख़ास तौर पर अक़लियतों यानी अल्पसंख्यकों और ग़रीब तबकों की तालीम, हुनरमंदी और कारोबार के लिए बनी हैं। लेकिन जब उन योजनाओं का बजट पास होता है, तो साल के आखिर में वह पैसा अक्सर यह कहकर वापस चला जाता है कि मुसलमानों ने इसके लिए अर्ज़ी ही नहीं दी।

ज़रा सोचिए, एक तरफ़ हमारा नौजवान पैसों की कमी की वजह से कॉलेज छोड़ रहा है, और दूसरी तरफ़ सरकार की स्कॉलरशिप का पैसा सिर्फ़ इसलिए वापस जा रहा है क्योंकि उस नौजवान को फ़ॉर्म भरना नहीं आता या उसे पता ही नहीं है कि ऐसी कोई योजना मौजूद भी है। यह मुजरिमाना लापरवाही है जिसे हमें आज और अभी ख़त्म करना होगा।

सबसे पहले बात करते हैं तालीम के मैदान में मौजूद सरकारी मंसूबों की। हुकूमत ने अक़लियतों के बच्चों के लिए प्री-मैट्रिक, पोस्ट-मैट्रिक और मेरिट-कम-मीन्स जैसी स्कॉलरशिप योजनाएं चला रखी हैं। प्री-मैट्रिक स्कॉलरशिप उन बच्चों के लिए है जो पहली क्लास से लेकर दसवीं क्लास तक पढ़ते हैं। पोस्ट-मैट्रिक ग्यारहवीं जमात से लेकर पीएचडी तक के लिए होती है। और मेरिट-कम-मीन्स उन होनहार बच्चों के लिए है जो इंजीनियरिंग, मेडिकल या मैनेजमेंट जैसे प्रोफेशनल और महंगे कोर्स करना चाहते हैं। लेकिन ज़मीनी सतह पर होता क्या है? एक गरीब बाप दिहाड़ी मज़दूरी करता है। जब स्कूल से कहा जाता है कि स्कॉलरशिप का फ़ॉर्म भर दो, तो पता चलता है कि बच्चे का आमदनी का सर्टिफ़िकेट नहीं बना है। बाप तहसील के चक्कर काटता है, बाबू उससे रिश्तत मांगता है, और दो दिन की मज़दूरी टूटने के डर से वह बाप कागज़ बनवाना ही छोड़ देता है। कभी बच्चे के आधार कार्ड में नाम की स्पेलिंग ग़लत होती है, तो बैंक खाते से नाम मैच नहीं करता। इन्हीं छोटी-छोटी ग़लतियों की वजह से हमारी क़ौम के लाखों बच्चे हर साल अपने हक़ से महरूम रह जाते हैं।

इसका प्रैक्टिकल हल क्या है? इसका हल हमारे मोहल्लों के पढ़े-लिखे नौजवानों और मस्जिद की कमेटियों के पास है। हर मोहल्ले में, हर मस्जिद के पास एक 'खिदमत सेंटर' या रहनुमाई का मरकज़ होना चाहिए। यह कोई बड़ी इमारत नहीं, बल्कि सिर्फ़ एक लैपटॉप, एक प्रिंटर और इंटरनेट कनेक्शन वाली मेज़ हो सकती है। जो नौजवान कंप्यूटर चलाना जानते हैं, वो यह ज़िम्मेदारी लें कि बस्ती के हर गरीब बच्चे का आधार कार्ड, बैंक अकाउंट और आय प्रमाण पत्र बिल्कुल सही और मुकम्मल हो। जब स्कॉलरशिप की तारीख़ आए, तो यह नौजवान खुद आगे बढ़कर उन गरीब बच्चों के फ़ॉर्म भरें। जब हमारी बस्तियों से हज़ारों की तादाद में बिल्कुल सही कागज़ात के साथ अर्ज़ियां जाएंगी, तो कोई भी निज़ाम हमें हमारा हक़ देने से रोक नहीं सकेगा। लड़कियों की तालीम के लिए सरकार की तरफ़ से 'बेगम हज़रत महल नेशनल स्कॉलरशिप' जैसी योजनाएं मौजूद हैं जो ख़ास तौर पर अल्पसंख्यक लड़कियों को आगे बढ़ाने के लिए दी जाती हैं। इसके अलावा 'नया सवेरा' जैसी योजना है जो हमारे नौजवानों को आईएएस, आईपीएस, मेडिकल और इंजीनियरिंग के इम्तिहानों की मुफ़्त कोचिंग देती है।

क्या हमारे अवाम को इसके बारे में मालूम है? नहीं। हमारी महफ़िलों में दुनिया भर की सियासत पर बहस होती है, लेकिन इन मंसूबों पर कोई बात नहीं करता। हमें अपने जुमे के खुर्बों में, अपनी चौपालों में और अपने सोशल मीडिया पर सिर्फ़ इन्हीं योजनाओं की मालूमात फैलानी होगी।

अब आते हैं हुनरमंदी यानी स्किल डेवलपमेंट की तरफ़, जो आज के कॉर्पोरेट और तकनीकी बाज़ार की रीढ़ की हड्डी है। अगर कोई बच्चा पढ़ाई में कमज़ोर है या बीच में पढ़ाई छोड़ चुका है, तो उसके लिए भी बहुत से रास्ते खुले हैं। सरकार की 'सीखो और कमाओ' योजना खास तौर पर अक़लियतों के नौजवानों के लिए है, जहाँ उन्हें ज़दीद हुनर सिखाए जाते हैं ताकि वो बाज़ार में अच्छी नौकरी पा सकें। इसी तरह 'उस्ताद' नाम की एक बहुत शानदार योजना है। हमारे जो पुश्तैनी कारीगर हैं, जैसे लकड़ी का काम करने वाले, पीतल का काम करने वाले या बुनकर, यह योजना उनके पुराने हुनर को नई तकनीक और डिज़ाइन के साथ जोड़ती है ताकि उनका माल दुनिया के बड़े बाज़ारों में बिक सके।

एक और योजना है 'नई मंज़िल', जो उन नौजवानों के लिए है जिन्होंने स्कूल बीच में ही छोड़ दिया था। इस योजना के तहत उन्हें स्कूल की तालीम का सर्टिफ़िकेट भी दिलाया जाता है और साथ ही कोई पक्का हुनर भी सिखाया जाता है। इसके अलावा पूरे मुल्क के नौजवानों के लिए 'प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना' है जहाँ मोबाइल रिपेयरिंग से लेकर कंप्यूटर हार्डवेयर, सिलाई, और हॉस्पिटैलिटी तक के सैकड़ों कोर्स बिल्कुल मुफ़्त कराए जाते हैं। ज़रा सोचिए कि अगर हमारी बस्तियों के बेरोज़गार नौजवान चौराहों पर वक्रत बर्बाद करने के बजाय इन सरकारी सेंटरों में जाकर यह ट्रेनिंग ले लें, तो उनके हाथों में एक ऐसा हुनर आ जाएगा जिसकी बाज़ार में हज़ारों रुपये कीमत है। लेकिन मसला फिर वही है कि अवाम और इन मंसूबों के बीच कोई पुल नहीं है। एक आम ग़रीब इंसान को समझ ही नहीं आता कि वो कहाँ जाए, किस दफ़्तर का दरवाज़ा खटखटाए। हमें अपनी बस्तियों में ऐसे रहनुमा तैयार करने होंगे जो इन दफ़्तरों के चक्कर लगाएं, वहां के अफ़सरों से मिलें और अपनी बस्ती के नौजवानों का वहां दाखिला करवाएं।

रोज़गार और छोटे कारोबार की बात करें, तो सरकार की 'प्रधानमंत्री मुद्रा योजना' एक बहुत बड़ा और उम्मीद भरा रास्ता है। बहुत से नौजवान अपना कारोबार इसलिए शुरू नहीं कर पाते क्योंकि उनके पास बैंक में गिरवी रखने के लिए कोई ज़मीन या जेवर नहीं होता। मुद्रा योजना के तहत बिना किसी बड़ी गारंटी के छोटे कारोबारियों को पचास हज़ार से लेकर दस लाख रुपये तक का कर्ज़ दिया जाता है। एक मुसलिम नौजवान जो पंचर की छोटी सी दुकान चलाता है, वो इस कर्ज़ के ज़रिये अपनी दुकान को एक बड़ी ऑटोमोबाइल रिपेयर शॉप में तब्दील कर सकता है।

लेकिन बैंक आसानी से कर्ज़ नहीं देते, यह एक कड़वी हकीकत है। जब एक आम मुसलिम नौजवान बिना किसी तैयारी के बैंक जाता है, तो बैंक वाले उसे टरका देते हैं। इसका प्रैक्टिकल हल यह है कि हमें अपने नौजवानों को प्रोजेक्ट रिपोर्ट बनाना सिखाना होगा। अगर आप बैंक से कर्ज़ मांगने जा रहे हैं, तो आपके पास कागज़ पर यह मुकम्मल हिसाब होना चाहिए कि आप यह पैसा कहाँ लगाएंगे, कितना माल खरीदेंगे, उसे कैसे बेचेंगे, और बैंक की किश्त कैसे वापस करेंगे। जब एक मज़बूत और साफ़-सुथरी प्रोजेक्ट रिपोर्ट बैंक मैनेजर की मेज़ पर रखी जाती है, और आपके कागज़ात पूरे होते हैं, तो बैंक को कर्ज़ देना ही पड़ता है। अगर कोई आनाकानी करे, तो हमें आरटीआई जैसे क़ानूनों का इस्तेमाल करके अपने हक़ की लड़ाई लड़ना भी सीखना होगा।

अब बात करते हैं फ़लाही मंसूबों की। फ़लाही मंसूबे यानी वेलफेयर स्कीम्स सिर्फ़ सरकार नहीं चलाती। हमारी अपनी क़ौम के अंदर, हमारे समाज के अमीर लोगों, ट्रस्टों, एनजीओ और वक्फ़ बोर्ड की तरफ़ से भी बहुत से फ़लाही काम किए जाते हैं। दरअसल, इस्लामी निज़ाम में फ़लाह या अवाम की भलाई सबसे बड़ा मक़सद है। लेकिन हमारे यहाँ फ़लाही मंसूबों का मतलब सिर्फ़ रज़ाई बांटना, राशन के पैकेट देना या किसी की शादी में मदद कर देना रह गया है। यह चीज़ें यक़ीनन बहुत सवाब का काम हैं और ज़रूरी भी हैं, लेकिन यह किसी ग़रीब की ग़रीबी हमेशा के लिए ख़त्म नहीं करती।

असली फ़लाही मंसूबा वह है जो किसी इंसान को अपने पैरों पर खड़ा कर दे। मुल्क में कई ऐसे मुस्लिम एनजीओ और तालीमी ट्रस्ट मौजूद हैं जो होनहार और गरीब बच्चों को आईएस, आईपीएस की तैयारी करवाते हैं, उनकी मेडिकल की फ़ीस भरते हैं। लेकिन इन इदारों की मालूमात छोटे शहरों और गाँवों तक नहीं पहुँच पाती। एक आम पढ़े-लिखे इंसान की हैसियत से आपका यह फ़र्ज़ है कि आप इंटरनेट के ज़रिये ऐसी तंज़ीमों को तलाश करें और अपनी बस्ती के लायक़ बच्चों का राबता उनसे करवाएं।

मुल्क भर में मुसलमानों की अरबों रुपये की वक्फ़ जायदादें मौजूद हैं। अगर इन वक्फ़ बोर्ड के निज़ाम को सही तरीक़े से अवाम की फ़लाह के लिए इस्तेमाल किया जाए, तो किसी मुसलमान बच्चे को हुकूमत के आगे हाथ फैलाने की ज़रूरत ही नहीं पड़ेगी। वक्फ़ की ज़मीनों पर शानदार स्कूल, कॉलेज, हुनरमंदी के मरकज़ और अस्पताल बनाए जा सकते हैं। लेकिन यह सब तब होगा जब अवाम खुद बेदार होगी। जब अवाम अपने मज़हबी और समाजी रहनुमाओं से यह सवाल करेगी कि हमारी ज़कात और हमारे वक्फ़ का पैसा आखिर कहाँ जा रहा है?

ज़मीनी सतह पर बदलाव के लिए हमें क्या करना है? हमें अपने मोहल्लों में आपसी मदद के छोटे-छोटे को-ऑपरेटिव निज़ाम बनाने होंगे। हर मोहल्ले की एक कमेटी हो जो सिर्फ़ मोहल्ले की साफ़-सफ़ाई या झगड़े न निपटाए, बल्कि उसका असल मक़सद यह हो कि मोहल्ले का कोई भी बच्चा तालीम से महरूम न रहे। यह कमेटियां हुकूमत की वेबसाइटों पर नज़र रखें, नई-नई योजनाओं का प्रिंटआउट निकाल कर मस्जिदों के नोटिस बोर्ड पर लगाएं। जुमे की नमाज़ के बाद इमाम साहब अवाम को बताएं कि फ़लां योजना के फॉर्म निकले हुए हैं, जिसके पास पैसे नहीं हैं वो ख़िदमत सेंटर में जाकर अपना फॉर्म मुफ़्त भरवा ले।

ख़ौफ़ को निकाल फेंकिए। कोई भी अफ़सर या निज़ाम तब तक आपका आपका हक़ नहीं देता जब तक आप पूरी तैयारी और पूरे एतमाद के साथ उससे अपना हक़ मांगते नहीं। हमारे नौजवानों को क़ानून की समझ होनी चाहिए। उन्हें पता होना चाहिए कि अगर कोई बाबू स्कॉलरशिप का फॉर्म दबा कर बैठ जाए, तो उसकी शिकायत किस पोर्टल पर करनी है।

जनसुनवाई और सीएम पोर्टल जैसे हथियार हुकूमत ने अवाम को दे रखे हैं, लेकिन हमारे लोग पुलिस और कचहरी के डर से इन पोर्टल्स का इस्तेमाल ही नहीं करते। एक बात हमेशा याद रखिए, एक पढ़ा-लिखा और बा-शऊर नौजवान जो क़ानून के दायरे में रहकर अपनी बात करता है, उससे पूरा निज़ाम घबराता है।

यह कोई हवाई बातें नहीं हैं। मुल्क की कई रियासतों में, खासतौर पर जनूबी हिंदुस्तान के कई शहरों में, मुसलमानों ने इसी तरह के खिदमत सेंटर बनाकर अपनी क़ौम के हज़ारों बच्चों को सरकारी वज़ीफ़े दिलाए हैं, हज़ारों नौजवानों को मुद्रा योजना से कर्ज़ दिला कर उनके कारोबार खड़े किए हैं। उन्होंने रोना छोड़ दिया और कागज़ात पर मेहनत शुरू कर दी। आज उनकी बस्तियां तालीम और तिजारत के मैदान में हमसे दहाईयों आगे निकल चुकी हैं। उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल और दीगर सूबों के मुसलमानों को भी यही प्रैक्टिकल मॉडल अपनाना होगा।

एक आम इंसान अपनी ज़िंदगी में हर रोज़ बहुत सी जंगें लड़ता है। जब वो घर से निकलता है, तो उसे सब्ज़ी की क़ीमतों से लड़ना पड़ता है, उसे मोहल्ले की गंदगी से लड़ना पड़ता है। लेकिन यह सब वो लड़ाइयां हैं जो उसे उलझाए रखती हैं और उसकी असल मंज़िल से दूर कर देती हैं। हमारी असल मंज़िल यह है कि हम इन सरकारी और फ़लाही मंसूबों को एक सीढ़ी की तरह इस्तेमाल करें। हुकूमत ने जो दरख्त हमारे ही टैक्स के पैसों से लगाए हैं, उनके फल खाने का हमारा पूरा हक़ है।

हम अपनी आने वाली नस्ल को सिर्फ़ एक दर्दनाक माज़ी और शिकवे-शिकायतों से भरा हुआ मुस्तक़बिल नहीं दे सकते। हमें उन्हें यह सिखाना होगा कि जो सिस्टम या निज़ाम हमें बाहर करना चाहता है, हम अपनी क़ाबलियत, अपने मुकम्मल कागज़ात और अपनी ज़िद के दम पर उसी निज़ाम का हिस्सा बनेंगे। जब हमारे लाखों बच्चे सरकारी स्कॉलरशिप लेकर बड़े इंदरों से निकलेंगे, जब हमारे नौजवान हुनरमंदी की योजनाओं का फ़ायदा उठाकर बाज़ार पर छा जाएंगे, और जब हमारे छोटे कारोबारी सरकारी कर्ज़ों से अपनी तिजारत को बड़ा करेंगे, तो यह ग़रीबी, यह ख़ौफ़ और यह पसमांदगी हमेशा के लिए दम तोड़ देगी।

यह उम्मीद कोई झूठा दिलासा नहीं है। यह मुमकिन है, बिल्कुल मुमकिन है। सिर्फ़ हमें अपने हाथों को मायूसी से हटाकर कंप्यूटर के की-बोर्ड और फ़ॉर्म भरने वाले क्लम पर रखना होगा। और यही बेदारी, यही हक़ मांगने की जद्दोजहद हमें उस मंज़िल की तरफ़ ले जाएगी जहाँ हमें ना तो किसी के आगे हाथ फैलाना पड़ेगा और ना ही किसी सियासतदान के झूठे वादों का मोहताज होना पड़ेगा। इसी तालीमी और माशी आज़ादी के साथ मुस्तक़बिल का जो एक और निहायत ज़रूरी पहलू जुड़ा हुआ है—वो है हमारे नौजवानों के लिए नई तकनीक और महारत का वो रास्ता जो उन्हें दुनिया के मुक़ाबले में खड़ा कर सके। इस नए रास्ते और इन नई तकनीकों का मुकम्मल जायज़ा हम अगले बाब में लेंगे, ताकि मुस्तक़बिल की कोई भी तस्वीर अधूरी न रह जाए।

बाब 14: नौजवानों के लिए नए रास्ते: हुनर, महारत और नई तकनीक

दुनिया जिस रफ़्तार से बदल रही है, अगर हमने उस रफ़्तार के साथ अपने क़दम नहीं मिलाए, तो हम तारीख़ के पन्नों में कहीं बहुत पीछे छूट जाएंगे। गुज़िश्ता बाबों में हमने तालीम, हुकूमत की योजनाओं और छोटे कारोबारों पर तफ़सील से बात की। लेकिन अब हमें उस सबसे अहम और नाज़ुक मोड़ पर बात करनी है जहाँ हमारे नौजवानों का असल मुस्तक़बिल खड़ा है। आज का दौर डिग्रियों को रटने और दफ़्तरों के बाहर अर्जियां लेकर खड़े रहने का दौर नहीं है। यह दौर इल्म से आगे बढ़कर हुनर और हुनर से आगे बढ़कर महारत का दौर है। जो हाथ काम करना जानते हैं, जो दिमाग़ नई तकनीक को समझ सकते हैं, आज दुनिया का बाज़ार सिर्फ़ और सिर्फ़ उन्हीं के लिए खुला है।

हमें अपनी नई नस्ल को यह समझाना होगा कि अब किसी भी दफ़्तर की बाबूगिरी में हमारा मुस्तक़बिल महफूज़ नहीं है। हमें अपने बच्चों को नौकरी मांगने वालों की क़तार से निकालकर नौकरी देने वालों की सफ़ में खड़ा करना है। और यह तभी मुमकिन है जब हमारे नौजवान नए रास्तों पर चलने की हिम्मत दिखाएंगे। आज के वक़्त की सबसे बड़ी पुकार यह है कि हम रिवायती सोच से आज़ाद हों और बाज़ार की नई ज़रूरतों को पहचानें।

सबसे पहले बात करते हैं उस तकनीक की जिसने पूरी दुनिया में एक इंकलाब बरपा कर दिया है। आज हर तरफ़ मसनूई ज़हानत यानी एआई का ज़िक्र गूँज रहा है। बहुत से लोग, जिन्हें मालूमात नहीं है, वो यह अफ़वाह फैला रहे हैं कि एआई आने वाले वक़्त में इंसानों की नौकरियां खा जाएगा। लेकिन एक हक़ीक़त समझ लीजिए—तकनीक कभी नौकरी नहीं खाती, बल्कि वो लोग जो नई तकनीक सीख लेते हैं, वो उन लोगों की जगह ले लेते हैं जो खुद को नहीं बदलते। हमारे नौजवानों के लिए एआई एक खतरा नहीं, बल्कि दौलत और कामयाबी का एक बहुत बड़ा हथियार है। ज़रा सोचिए, इंटरनेट की दुनिया में आज क्रिएटिव काम की कितनी मांग है। अगर कोई नौजवान अपने कंप्यूटर पर बैठकर एआई की मदद से शानदार और हक़ीक़ी लगने वाली तस्वीरें बनाना सीख ले, डिज़ाइन तैयार करना सीख ले, तो वो अपने ही कमरे में बैठकर पूरी दुनिया के ग्राहकों के लिए काम कर सकता है।

किसी भी किरदार को डिज़ाइन करना, तस्वीरों के बैकग्राउंड बदलना, या डिजिटल आर्ट के ज़रिये नए तसव्वुर पेश करना आज के वक़्त का सबसे महंगा और बेहतरीन हुनर है। इसके लिए किसी बहुत बड़ी डिग्री की ज़रूरत नहीं होती, सिर्फ़ दिलचस्पी और नए सॉफ्टवेयर को समझने की लगन चाहिए। जो नौजवान इस डिजिटल मैदान में अपनी महारत साबित कर देगा, उसे कभी किसी का मोहताज नहीं होना पड़ेगा।

लेकिन बात सिर्फ़ इंटरनेट तक महदूद नहीं है। ज़मीनी हक़ीक़त यह है कि हमारे आस-पास ऐसे कई मज़बूत और ठोस कारोबार हैं जिनकी मांग में कभी कमी नहीं आ सकती। इनमें सबसे अहम शोबा इंसान की सेहत और दवाओं का है। तिब्बी आطب और फार्मेसी का कारोबार एक ऐसा मैदान है जहाँ मंदी का कोई असर नहीं होता। अगर कोई नौजवान थोड़ी सी तालीम और एक साफ़ मंसूबा-बंदी के साथ इस मैदान में उतरे, तो वह एक शानदार मुस्तक्रबिल खड़ा कर सकता है। मिसाल के तौर पर, अगर किसी नौजवान के पास एक तयशुदा बजट है, मान लीजिए कि तीस लाख रुपये का सरमाया है, तो वह एक बहुत ही जदीद और मुकम्मल फार्मेसी या क्लिनिक शुरू कर सकता है। दवाओं का सही लाइसेंस, दुकान का बेहतरीन डिज़ाइन, दवाओं के स्टॉक का मुकम्मल इंतज़ाम—यह सब अगर सही तरीक़े से किया जाए, तो यह सिर्फ़ एक कारोबार नहीं रहता, बल्कि यह अवाम के लिए एक बहुत बड़ी ख़िदमत भी बन जाता है। इस काम में ईमानदारी और लोगों से हमदर्दी से पेश आने वाला कोई भी नौजवान रातों-रात अवाम का भरोसा जीत सकता है और एक कामयाब कारोबारी बन सकता है।

इसी तरह मुस्तक्रबिल का एक और बहुत बड़ा बाज़ार ऊर्जा और बिजली का है। आज दुनिया जिस तरह पुराने ईंधनों को छोड़कर नई ऊर्जा की तरफ़ जा रही है, उसमें सोलर पावर का मुस्तक्रबिल सबसे रौशन है। आज हर इंसान महंगी बिजली के बिलों से परेशान है और वह अपने घर या कारख़ाने में सोलर निज़ाम लगाना चाहता है। अगर हमारे नौजवान इस तकनीक को सीख लें कि सोलर पैनल कैसे लगाए जाते हैं, तो उनके पास काम की कोई कमी नहीं रहेगी। यह कोई छोटा काम नहीं है। एक नौजवान को यह महारत हासिल करनी चाहिए कि वह किसी भी बड़े घर का लोड आसानी से कैलकुलेट कर सके।

अगर किसी घर को पंद्रह किलोवाट के हाइब्रिड सोलर सिस्टम की ज़रूरत है और उसके साथ पचास किलोवाट-आवर की जदीद लिथियम बैटरी बैंक लगानी है, तो इस पूरे निज़ाम की वायरिंग, उसकी सेटिंग और उसकी देख-भाल का हुनर आज के बाज़ार में बहुत क़ीमती है। जो हाथ यह काम करना सीख जाएंगे, वो आने वाले दशकों तक इस बाज़ार पर राज करेंगे।

वक्रत की एक और बड़ी ज़रूरत हिफ़ाज़त और निगरानी का निज़ाम है। आज के दौर में हर कोई अपनी जान और माल की हिफ़ाज़त को लेकर फ़िक्रमंद है। सीसीटीवी कैमरे और स्मार्ट सिक्वोरिटी सिस्टम लगाना आज एक बुनियादी ज़रूरत बन चुका है। यह एक ऐसा हुनर है जिसे बहुत ही कम वक्रत में और कम सरमाये से सीखा जा सकता है। हमारे नौजवान अगर यह काम सीख लें तो वो एक छोटी सी दुकान से एक बहुत बड़ी सिक्वोरिटी कंपनी तक का सफ़र तय कर सकते हैं। फ़र्ज़ कीजिए कि किसी बड़ी इमारत या कारख़ाने में एक मुकम्मल निगरानी का निज़ाम लगाना है, जिसमें छब्बीस कैमरे लगने हों—जिनमें से सोलह आम सीसीटीवी कैमरे हों और दस जदीद घूमने वाले कैमरे हों। इस पूरे नेटवर्क को एक स्क्रीन से जोड़ना, इसे इंटरनेट के ज़रिये मोबाइल पर दिखाना, यह सब कोई रॉकेट साइंस नहीं है। यह सिर्फ़ और सिर्फ़ महारत और मेहनत का काम है। जो नौजवान इस हुनर में माहिर हो गया, वह किसी भी बड़े कारोबारी की पहली पसंद बन जाएगा।

इन तमाम नए रास्तों और हुनर के बारे में बात करते हुए एक बात जो सबसे ज़्यादा अहम है, वो है काम के प्रति आपकी दिलचस्पी और आपकी लगन। हमारे समाज का एक बहुत बड़ा अलमिया यह रहा है कि हम किसी भी काम को सिर्फ़ पैसे कमाने के लिए करते हैं। जब आप कोई काम मज़बूरी समझ कर करते हैं, तो आप उसमें कभी कमाल हासिल नहीं कर सकते। आप ताउम्र एक मज़दूर ही बनकर रह जाते हैं। लेकिन जब आप अपने काम से मुहब्बत करते हैं, जब आप उसकी एक-एक बारीकी को समझते हैं, तो आप उस हुनर के उस्ताद बन जाते हैं। नरमंदी का मतलब सिर्फ़ औज़ार चलाना नहीं होता। महारत उसे कहते हैं जब कोई दूसरा आपके काम में नुक्स न निकाल सके। अगर आप एक इलेक्ट्रीशियन हैं, तो आपकी वायरिंग इतनी साफ़ और महफूज़ होनी चाहिए कि देखने वाला भी दाद दे।

अगर आप कंप्यूटर पर कोई डिज़ाइन बना रहे हैं, तो वो इतना शानदार होना चाहिए कि ग्राहक खुशी से आपके मांगे हुए पैसे दे। यही वो जज़्बा है जो हमें अपने नौजवानों के दिलों में पैदा करना है। कोई भी काम छोटा या बड़ा नहीं होता। उसे करने का अंदाज़ और उसमें आपकी महारत उसे अज़ीम बनाती है। हमें इस बात को भी गहराई से समझना होगा कि अब शॉर्टकट का ज़माना ख़त्म हो चुका है। रातों-रात अमीर बनने के ख़्वाबों ने हमारी कई नस्लों को तबाह किया है। आज के नौजवान को यह बात अपने ज़हन में बिठा लेनी चाहिए कि कामयाबी की मंज़िल तक पहुँचने के लिए पसीने और मेहनत के समंदर से गुज़रना ही पड़ता है। जब आप कोई नया काम शुरू करते हैं, तो शुरुआत में नाकामी का डर भी होता है और मुश्किलें भी आती हैं। हो सकता है कि पहले कुछ महीनों तक आपको कोई मुनाफा न हो। लेकिन यही वो वक़्त होता है जब आपके हुनर और आपके सब्र का इम्तिहान होता है। जो नौजवान इस इम्तिहान में डटा रहता है, वो आगे चलकर अपनी तक़दीर खुद लिखता है।

ज़मीनी सतह पर अगर हमें अपनी क़ौम की हालत बदलनी है, तो हर घर में यह बात आम करनी होगी कि तालीम का मक़सद सिर्फ़ एक डिज़ाइन वाली डिग्री हासिल करना नहीं है। तालीम वो है जो आपके दिमाग़ को खोले, और हुनर वो है जो आपके हाथों को कभी किसी के आगे फैलने न दे। हमें अपने गली-मोहल्लों में ऐसे माहौल बनाने होंगे जहाँ बात सिर्फ़ सियासत या फ़िज़ूल के क्रिस्सों पर न हो, बल्कि इस बात पर हो कि आज बाज़ार में कौन सी नई तकनीक आई है और हम उसे कैसे सीख सकते हैं। एक आम पढ़े-लिखे इंसान की हैसियत से हम सब की यह ज़िम्मेदारी है कि हम अपने आस-पास के उन नौजवानों को रास्ता दिखाएं जो बेरोज़गारी की वजह से मायूस हो चुके हैं। उन्हें बताएं कि दुनिया बहुत बड़ी है और मुवाक़े यानी मौक़े बेशुमार हैं। उन्हें कंप्यूटर और नई तकनीक की तरफ़ लेकर आएं। उन्हें समझाएं कि अगर एक रास्त बंद होता है तो दस नए रास्ते खुलते भी हैं। सिर्फ़ आँखें खुली रखने की और मेहनत करने की ज़रूरत है। यह नए रास्ते, ये जदीद कारोबार और यह नई तकनीकें दरअसल हमारी माशी आज़ादी का वो मुकम्मल रोडमैप हैं जिन पर चलकर हम अपनी आज़ादी के बाद की तमाम नाकामियों को धो सकते हैं।

हमें सिर्फ़ यह याद रखना है कि ज़माना उसी की क़द्र करता है जिसके पास ज़माने को देने के लिए कोई बेहतरीन हुनर होता है। अपने हुनर को इतना निखारें, अपनी महारत को इस क़दर बुलंद करें कि कल को यही निज़ाम जो आज आपके लिए दरवाज़े बंद करता है, वो आपके दरवाज़े पर आकर दस्तक देने पर मज़बूर हो जाए। और यही वो अज़ीम तब्दीली है जो हमारी क़ौम के मुस्तक़बिल को एक रौशन और शानदार सुबह की तरफ़ ले जाएगी।

बाब 15: औरतों की तालीम और माशी तरक्की में उनका हिस्सा

जब हम किसी क़ौम के मुस्तक़बिल का ख़ाका खींचते हैं, उसकी तरक्की के बड़े-बड़े मंसूबे बनाते हैं और उसके उरूज़ की दास्तान लिखने की तैयारी करते हैं, तो वह मंसूबा उस वक़्त तक मुकम्मल नहीं हो सकता जब तक उसमें समाज की आधी आबादी का रंग न भरा जाए। एक परिंदा चाहे कितना भी ताक़तवर क्यों न हो, अगर उसका एक पर काट दिया जाए, तो वह कभी आस्मान की ऊंचाइयों को नहीं छू सकता। हिंदुस्तानी मुसलमानों की सबसे बड़ी और सबसे मुजरिमाना ग़लती यह रही है कि हमने अपनी तरक्की के परिंदे का एक पर, यानी हमारी औरतों और बच्चियों की तालीम और उनकी माशी आज़ादी, अपने ही हाथों से काट दिया है। आज वक़्त की सबसे बड़ी पुकार यह है कि इस कड़वी हकीक़त को तस्लीम किया जाए और अपनी सोच के जालों को साफ़ करके उस आज़ाद और रौशन रास्ते की तरफ़ कदम बढ़ाया जाए, जहाँ औरतें सिर्फ़ घरों की चारदीवारी तक महदूद न रहें, बल्कि क़ौम की माशी और तालीमी तरक्की में कंधे से कंधा मिलाकर चलें। ज़रा तारीख़ के पन्नों को पलट कर देखिए। हमने अपना ताल्लुक़ जिस अज़ीम माज़ी से जोड़ा है, क्या वहाँ औरतों को तालीम और कारोबार से दूर रखा गया था? हरगिज़ नहीं। मक्का की सबसे बड़ी ताजिर हज़रत ख़दीजा थीं, जिनका अपना एक बहुत बड़ा कारोबार था और जिनके माल के कारवां मीलों दूर तक जाया करते थे। हज़रत आयशा इल्म का वह समंदर थीं जिनसे बड़े-बड़े सहाबा और दानिशवर मशवरा लिया करते थे। फिर हम आखिर किस ग़फलत का शिकार हो गए? हमने अपने दीन के उस बेहतरीन और रौशन चेहरे को भुलाकर, कुछ रवायती और झूठी शान की बेड़ियों को अपनी बच्चियों के पैरों में क्यों डाल दिया? यह वो सवाल है जिसका जवाब हर उस पढ़े-लिखे इंसान को अपने आप से पूछना होगा जो अपनी क़ौम का मुस्तक़बिल बदलना चाहता है।

ज़मीनी हकीक़त यह है कि आज भी हमारी बस्तियों में जब एक बच्ची पैदा होती है, तो उसके बाप के ज़हन में सबसे पहली फ़िक्र उसकी तालीम की नहीं, बल्कि उसके जहेज़ और उसकी शादी की होती है। एक ग़रीब इंसान अपनी पाई-पाई जोड़ता है ताकि बेटी को एक अच्छा जहेज़ दे सके, लेकिन वह यह नहीं सोचता कि अगर वह उसी पैसे से अपनी बेटी को एक बेहतरीन डिग्री दिला दे।

उसे कोई उम्दा हुनर सिखा दे, तो उस बच्ची को ज़िंदगी भर किसी जहेज़ या किसी इंसान के रहमो-करम की मोहताजी नहीं रहेगी।

खास तौर पर जब एक बाप अपनी बेटियों की परवरिश करता है, तो उसके कंधों पर सिर्फ़ उन्हें बड़ा करने की ज़िम्मेदारी नहीं होती, बल्कि एक पूरी नस्ल के मुस्तक़बिल को तराशने की ज़िम्मेदारी होती है। ज़रा तसव्वुर कीजिए उस बाप का, जो अपनी बेटियों की उँगलियाँ पकड़कर उन्हें स्कूल ले जाता है और यह ख़्वाब देखता है कि कल को यह बच्चियाँ सिर्फ़ घर के बर्तन नहीं माँजेंगी, बल्कि यह किसी बड़े अस्पताल की सर्जन बनेंगी, किसी कॉलेज में प्रोफेसर बनेंगी, या आज़ाद तौर पर अपना कोई बेहतरीन मेडिकल क्लीनिक और फार्मसी चलाएंगी। जब एक बाप अपनी बेटियों पर यह भरोसा करता है, उन्हें तालीम और आज़ादी का यह आसमान देता है, तो वो बच्चियाँ कभी भी समाज का बोझ नहीं बनतीं, बल्कि वो उस पूरे खानदान की माशी और समाजी ताक़त बन जाती हैं।

आज के इस दौर में जहाँ महंगाई आसमान छू रही है, जहाँ एक आम इंसान की आमदनी से घर का गुज़ारा मुश्किल हो गया है, वहाँ औरतों की माशी हिस्सेदारी कोई आज़ाद-खयाली का शौक नहीं है, बल्कि यह ज़िंदा रहने की सबसे बड़ी मजबूरी और ज़रूरत है। जिस घर में सिर्फ़ एक इंसान कमाने वाला हो और दस लोग खाने वाले हों, वह घर कभी भी ग़रीबी के दलदल से बाहर नहीं आ सकता। लेकिन इसके बरअक्स, अगर घर का मर्द कोई कारोबार कर रहा है और घर की औरत भी अपनी किसी महारत, अपनी तालीम या अपने हुनर के ज़रिये मुल्क की माईशत में अपना हिस्सा डाल रही है, तो वह खानदान बहुत जल्द माशी तौर पर आज़ाद और खुशहाल हो जाता है।

अब सवाल यह पैदा होता है कि ग्राउंड लेवल यानी ज़मीनी सतह पर हम यह तब्दीली कैसे लाएं? एक आम इंसान इस बदलाव का हिस्सा कैसे बन सकता है?

सबसे पहला बदलाव हमें अपने घरों की सोच और अपनी तरबियत में लाना होगा। हमें यह बात तस्लीम करनी होगी कि लड़कियों की तालीम सिर्फ़ इसलिए नहीं होती कि उन्हें कोई अच्छा रिश्ता मिल जाए। तालीम उनका बुनियादी हक़ है।

हमें अपनी बस्तियों में ऐसे महफूज़ और मज़बूत तालीमी इदारे बनाने होंगे जहाँ माँ-बाप अपनी बच्चियों को बेझिझक भेज सकें। ख़ौफ़ और असुरक्षा का जो माहौल है, उसे ख़त्म करने की ज़िम्मेदारी हमारे मोहल्ले के ज़िम्मेदार और पढ़े-लिखे लोगों की है। अगर शहर में कोई अच्छा डिग्री कॉलेज दूर है, तो मोहल्ले के लोग मिलकर अपनी बच्चियों के लिए महफूज़ गाड़ियों या ट्रांसपोर्ट का इंतज़ाम करें, लेकिन दूरी या ख़ौफ़ की वजह से उनकी तालीम का क़त्ल न होने दें।

दूसरा अहम क़दम लड़कियों के लिए ऐसे पेशों और हुनर का इंतैखाब है जो उन्हें इज़्ज़त के साथ माशी आज़ादी दे सकें। आज के वक़्त में सेहत, तिब्ब और फार्मेसी का शोबा लड़कियों के लिए एक निहायत ही शानदार और बा-वक़ार मैदान है। जब हमारी एक बच्ची मेडिकल की तालीम हासिल करती है या फार्मेसी की डिग्री लेकर निकलती है, तो वह सिर्फ़ अपनी रोज़ी नहीं कमाती, बल्कि वह समाज की उन हज़ारों औरतों के लिए भी एक बहुत बड़ी सहूलत बन जाती है जो किसी मर्द डॉक्टर या फार्मासिस्ट के पास जाने से हिचकिचाती हैं। अपना क्लीनिक चलाना या दवाओं का कारोबार सँभालना एक ऐसा इज़्ज़तदार और आज़ाद पेशा है जिसमें औरतें बहुत आसानी से अपनी महारत साबित कर सकती हैं।

इसके अलावा, आज की नई दुनिया इंटरनेट और डिजिटल तकनीक की दुनिया है। अगर कोई ख़ानदान अपनी बच्चियों को बाहर जाकर नौकरी करने की इजाज़त नहीं भी दे पाता, तो आज घर की चारदीवारी में बैठकर भी पूरी दुनिया के साथ कारोबार किया जा सकता है। कंप्यूटर प्रोग्रामिंग, डिज़िटल मार्केटिंग, ग्राफ़िक डिज़ाइनिंग, और कंटेंट राइटिंग जैसे बेशुमार ऐसे हुनर हैं जिन्हें घर से किया जा सकता है। हमारी बेटियां अगर इन नई तकनीकों को सीख लें, तो वो अपनी रिवायतों और अपने पर्दे में रहकर भी महीने के लाखों रुपये कमा सकती हैं और अपने ख़ानदान की माशी कफ़ालत कर सकती हैं।

हमें अपनी औरतों को हुकूमत की उन योजनाओं से भी जोड़ना होगा जो ख़ास तौर पर उनके लिए बनाई गई हैं। बहुत सी ऐसी सरकारी योजनाएं हैं जो औरतों को अपना कारोबार शुरू करने के लिए बहुत कम शर्तों पर सरमाया देती हैं। छोटे पैमाने पर कपड़ों का डिज़ाइनिंग सेंटर खोलना हो।

ऑनलाइन हैंडीक्राफ्ट का बिज़नेस हो, या फिर तालीमी इदारे शुरू करने हों, औरतों के अंदर जो लगन और जो सलीका होता है, वह मर्दों से कहीं ज़्यादा होता है। जब एक औरत कोई कारोबार चलाती है, तो वह उसमें अपनी पूरी रूह डाल देती है। हमें सिर्फ़ उन्हें वह सरमाया और वह हौसला देने की ज़रूरत है।

हम अक्सर यह भूल जाते हैं कि एक अनपढ़ माँ कभी भी एक शानदार नस्ल की तरबियत नहीं कर सकती। एक माँ जो दुनियावी इल्म से कोसों दूर हो, जिसे यह न पता हो कि आज के दौर में साइंस क्या है, तकनीक क्या है, वह अपने बच्चों को कभी एक मज़बूत मुस्तक़बिल नहीं दे सकती। लेकिन जब एक औरत तालीम-याफ़्ता होती है, तो वह पूरी की पूरी नस्ल की यूनिवर्सिटी बन जाती है। वह अपने बच्चों को सिर्फ़ स्कूल नहीं भेजती, बल्कि वह उनके होमवर्क से लेकर उनके मुस्तक़बिल की मंसूबा-बंदी तक सब कुछ अपने हाथों में ले लेती है।

हमें अपने समाज के उन मज़हबी और समाजी रहनुमाओं से भी गुज़ारिश करनी होगी कि वह औरतों की तालीम और उनके रोज़गार को लेकर फैली हुई ग़लतफ़हमियों को दूर करें। जुमे के ख़ुत्बों में और जलसों में यह पैग़ाम आम होना चाहिए कि जो शख्स अपनी बेटियों को आला तालीम देता है और उन्हें अपने पैरों पर खड़ा करता है, वह समाज का सबसे मुअज़्ज़िज़ इंसान है। हमें अपनी बच्चियों की कामयाबियों पर फ़ख़्र करना सीखना होगा। जब कोई मुसलिम लड़की किसी इम्तिहान में टॉप करती है, जब वो आज़ाद मुल्क के किसी बड़े ओहदे पर पहुँचती है, तो हमें उसके हौसले को सलाम करना चाहिए।

यह रास्ता जो हमने चुना है, यह आसान नहीं है। इसमें सदियों पुरानी सोच से टकराना है, इसमें समाज के तानों का सामना भी करना है, लेकिन यही वह वाहिद रास्ता है जो हमें मायूसी के अंधेरों से निकालकर उस नई सुबह तक ले जाएगा जिसकी हमें तलाश है। ज़रा सोचिए उस ख़ूबसूरत मुस्तक़बिल के बारे में जब हमारी बस्तियों की औरतें किसी के आगे हाथ नहीं फैलाएंगी, जब एक बेवा या तलाक़शुदा औरत अपनी ज़िंदगी की डोर अपने हुनर और अपनी तालीम के दम पर खुद थामेगी। जब हमारी बच्चियाँ किसी भी दफ़्तर, अस्पताल या कारख़ाने में अपने इल्म और अपनी महारत का लोहा मनवाएंगी।

माशी तरक्की का यह ख्वाब उस दिन हकीकत में तब्दील होगा जिस दिन हमारी क़ौम का हर मर्द यह समझ लेगा कि औरत उसकी जागीर नहीं है, बल्कि वह इस दुनिया को आबाद करने में उसके बराबर की हिस्सेदार है। जब एक पढ़ा-लिखा बाप अपनी बेटी के सर पर हाथ रखकर यह कहेगा कि दुनिया की कोई भी ताक़त तुम्हें आगे बढ़ने से नहीं रोक सकती, तो यक़ीन मानिए, उस दिन हमारी क़ौम के उरूज़ को कोई भी सियासी साज़िश या कोई भी सरकारी आंकड़ा रोक नहीं पाएगा।

औरतों की तालीम और माशी आज़ादी हमारी तक्रदीर बदलने की वह सबसे मज़बूत चाबी है जिसे हमने बहुत अरसे से ज़ंग लगने के लिए छोड़ दिया था। अब वक़्त आ गया है कि इस चाबी से तरक्की और वक़ार के उन तमाम बंद दरवाज़ों को खोल दिया जाए। मुस्तक़बिल के इस रोडमैप में औरतों का यह किरदार सिर्फ़ एक उम्मीद नहीं है, बल्कि यह एक ऐसा प्रैक्टिकल और यक़ीनी हल है जिसके बिना हमारी कोई भी मंज़िल मुकम्मल नहीं हो सकती। और इसी मज़बूत और तालीम-याप्त समाज की बुनियाद पर हम किस तरह एक क़ौमी इत्तेहाद और सियासी शऊर पैदा कर सकते हैं, इस बात का आखिरी और मुकम्मल जायज़ा हम इस किताब के अगले बाब में लेंगे, ताकि अपने हकूक की यह लड़ाई पूरे वक़ार और ताक़त के साथ लड़ी जा सके।

बाब 16: क़ौमी इत्तेहाद और सियासी शऊर: अपने हुक्क़ की लड़ाई कैसे लड़ें?

ज़िंदगी के हर मैदान में कामयाबी हासिल करने के बाद भी, अगर किसी इंसान या क़ौम के पास अपने हक़ की हिफ़ाज़त करने का शऊर न हो, तो उसकी सारी मेहनत, सारी दौलत और सारी तालीम एक पल में ख़ाक हो सकती है। पिछले बाबों में हमने तालीम, हुनरमंदी, कारोबार और औरतों की माशी आज़ादी पर तफ़सील से बात की। लेकिन एक बहुत ही कड़वी और बुनियादी हक़ीक़त यह है कि आप चाहे कितने भी बड़े डॉक्टर बन जाएं, कितने भी बड़े सनअतकार बन जाएं, अगर आपके पास सियासी शऊर और क़ौमी इत्तेहाद नहीं है, तो जिस मुल्क या समाज में आप रहते हैं, वहाँ का निज़ाम आपको कभी भी कुचल सकता है। तालीम हमें रौशनी देती है, दौलत हमें ताक़त देती है, लेकिन सियासी शऊर हमें ज़िंदा रहने का वह हक़ देता है जिसे कोई हुकूमत, कोई निज़ाम और कोई भी ताक़त हमसे छीन नहीं सकती।

आज़ादी के बाद हिंदुस्तानी मुसलमानों के साथ जो सबसे बड़ा अलमिया हुआ, वह सिर्फ़ ग़रीबी या तालीमी पसमांदगी नहीं थी, बल्कि वह हमारा सियासी इस्तेहसाल था। आज़ाद हिंदुस्तान की सियासत ने हमें एक ऐसे ख़ौफ़ के पिंजरे में कैद कर दिया जहाँ हम अपने हक़क़ मांगना ही भूल गए। हमें यह समझाया गया कि अगर तुम्हें अपनी जान बचानी है, अपनी मस्जिदें बचानी हैं, तो अमुक पार्टी या अमुक रहनुमा को वोट दे दो। हमारी पूरी सियासत सिर्फ़ और सिर्फ़ ख़ौफ़ और ज़ुबानी नारों के इर्द-गिर्द सिमट कर रह गई। हमने कभी अपने रहनुमाओं से यह सवाल नहीं किया कि हमारे बच्चों के लिए स्कूल कहाँ हैं? हमारी बस्तियों में अस्पताल क्यों नहीं हैं? हमें नौकरियाँ क्यों नहीं मिल रही? क्योंकि हमें डरा दिया गया था, और एक डरा हुआ इंसान कभी हक़ की बात नहीं करता, वह सिर्फ़ पनाह मांगता है।

आज वक्रत की सबसे बड़ी पुकार यह है कि हमें खौफ़ की इस सियासत को हमेशा के लिए दफ़न करना होगा। हमें यह समझना होगा कि जम्हूरियत में वोट सिर्फ़ एक पर्ची नहीं होती, बल्कि यह आपकी आने वाली नस्लों के मुस्तक्रबिल का परवाना होता है। सियासी शऊर का मतलब यह बिल्कुल नहीं है कि हर नौजवान अपनी पढ़ाई-लिखाई छोड़कर किसी पार्टी का झंडा उठा ले और सड़कों पर नारे लगाता फिरे। सियासी शऊर का असल मतलब यह है कि एक आम इंसान, एक ठेले वाला, एक मज़दूर और एक पढ़ा-लिखा नौजवान यह जाने कि मुल्क का आईन उसे क्या हक़ देता है, और उस हक़ को कैसे हासिल करना है।

लेकिन यह सियासी शऊर उस वक्रत तक मुकम्मल नहीं हो सकता, जब तक हम अपने अंदरूनी इख़्तेलाफ़ात को ख़त्म करके एक मज़बूत क्रौमी इत्तेहाद पैदा न करें। यह हमारी सबसे बड़ी और सबसे शर्मनाक कमज़ोरी है कि हम खुद को एक उम्मत तो कहते हैं, लेकिन ज़मीनी हक़ीक़त में हम सैकड़ों टुकड़ों में बंटे हुए हैं। हमारे दरमियान मसलकों की दीवारें इतनी ऊंची हो गई हैं कि हम एक-दूसरे के पीछे नमाज़ पढ़ना तो दूर, एक-दूसरे के साथ उठना-बैठना भी पसंद नहीं करते। इसके बाद बिरादरियों और जातियों का वह ज़हर है जिसने हमारे मुआशरे को अंदर से खोखला कर दिया है।

ज़रा सोचिए, जब एक क्रौम अंदर से इतनी बिखरी हुई हो, जहाँ एक मुहल्ले में चार अलग-अलग मसलक की मस्जिदें हों और उनके लोग एक-दूसरे को नीचा दिखाने में अपनी सारी ताक़त और सारा सरमाया बर्बाद कर रहे हों, तो क्या कोई बाहरी ताक़त ऐसी क्रौम से डरेगी? बिल्कुल नहीं। सियासतदान हमारी इसी कमज़ोरी का फ़ायदा उठाते हैं। वो जानते हैं कि इन्हें आपस में लड़ाना बहुत आसान है। हमें इस हक़ीक़त को पूरी संजीदगी से तस्लीम करना होगा कि हमारे मज़हबी इख़्तेलाफ़ात हमारी इबादतगाहों तक महदूद रहने चाहिए। जब बात क्रौम की तालीम की हो, जब बात हमारे नौजवानों के रोज़गार की हो, और जब बात हमारे हुकूक़ की हो, तो वहाँ न कोई सुन्नी होना चाहिए, न कोई शिया, न कोई देवबंदी और न ही कोई बरेलवी। वहाँ सिर्फ़ और सिर्फ़ एक मुतहिद क्रौम होनी चाहिए। जब तक हम अपने अंदर यह इत्तेहाद पैदा नहीं करेंगे, तब तक दुनिया की कोई भी सियासी ताक़त हमें हमारा हक़ नहीं देगी।

ज़मीनी सतह पर यह तब्दीली कैसे आएगी? एक आम पढ़े-लिखे इंसान को इस क़ौमी इत्तेहाद और सियासी शऊर के लिए क्या क़दम उठाने होंगे? इसका रास्ता बहुत सीधा और साफ़ है। सबसे पहले हमें अपनी बस्तियों और मुहल्लों से शऊर की बेदारी शुरू करनी होगी। हमें अपने नौजवानों को जज़्बाती तकरीरों और खोखले नारों से निकालकर आईन और क़ानून की तालीम देनी होगी। मुल्क का संविधान ही हमारा सबसे बड़ा हथियार है। हमारे हर नौजवान को पता होना चाहिए कि उसके बुनियादी हुक्क क्या हैं। जब पुलिस किसी बेगुनाह को परेशान करे, तो पूरी बस्ती को सड़कों पर उतरकर पत्थर मारने के बजाय, क़ानूनी तौर पर अदालत का दरवाज़ा खटखटाना आना चाहिए। हमें सूचना के अधिकार जैसे क़ानूनों का इस्तेमाल करना सीखना होगा।

अगर आपकी बस्ती में कई सालों से कोई स्कूल नहीं बना है, सड़कें टूटी हुई हैं, तो किसी रहनुमा के पास जाकर गिड़गिड़ाने के बजाय, बस्ती के दस पढ़े-लिखे नौजवान सूचना के अधिकार के तहत अर्ज़ी लगाएं और मुक़ामी अफ़सरों से पूछें कि हमारी बस्ती के विकास का पैसा कहाँ गया? यक़ीन मानिए, जब आप क़लम और क़ानून की ताक़त से सवाल पूछते हैं, तो बड़े से बड़ा अफ़सर और बड़े से बड़ा सियासतदान भी घुटने टेकने पर मज़बूर हो जाता है। जम्हूरियत में आवाज़ उठाने का यह सबसे मोहज़ज़ब और ताक़तवर तरीक़ा है। दूसरी सबसे अहम बात, हमें वोट की अहमियत को पहचानना होगा। चुनाव के वक़्त जब नुमाइंदे हमारी बस्तियों में आते हैं, तो हम सिर्फ़ उनकी मीठी बातों या किसी जज़्बाती मसले पर उन्हें वोट दे देते हैं। हमें इस रिवायत को तोड़ना होगा। जब भी कोई सियासी रहनुमा वोट मांगने आए, तो मुहल्ले के बुज़ुर्गों और नौजवानों को मिलकर उससे एक सीधा सवाल करना चाहिए कि हमारे बच्चों के लिए तुम्हारी पार्टी का तालीमी मंसूबा क्या है? तुम हमारे इलाक़े में कितने अस्पताल बनवाओगे? हमारी ग़रीब औरतों के कारोबार के लिए तुम्हारे पास क्या खाका है? अगर उसके पास इन सवालों का कोई ठोस जवाब नहीं है, तो उसे साफ़ बता दें कि अब हमें ख़ौफ़ और जज़्बात के नाम पर बेवकूफ़ नहीं बनाया जा सकता। हमें जो तालीम और रोज़गार देगा, हमारा वोट उसी को जाएगा। जब आप अपने वोट की क़ीमत अपने हुक्क और अपनी तरक्की से तय करेंगे, तो सियासतदान खुद-ब-खुद आपको इज़ज़त की निगाह से देखने लगेंगे।

कौमी इत्तेहाद के लिए हमें अपनी मस्जिदों और मदारिस के मिम्बरों का भी सही इस्तेमाल करना होगा। हमारे उलेमाओं और इमामों की आवाज़ में बहुत ताक़त होती है। अवाम उनकी बात को बहुत एहताराम के साथ सुनती है। हमें अपने इमामों से यह गुज़ारिश करनी चाहिए कि वो सिर्फ़ आखिरत की फ़िक्र न दिलाएं, बल्कि जुमे के खुत्बों में दुनियावी मसाइल पर भी बात करें। वो अवाम को बताएं कि तालीम हासिल करना भी इबादत है, अपने हक़ के लिए लड़ना भी सुन्नत है, और आपस की तफ़रीक़ क़ौम को बर्बाद कर देती है। जिस दिन हमारी मस्जिदों से सियासी शऊर, इल्म और इत्तेहाद का पैग़ाम आम होने लगेगा, उस दिन मुआशरे में एक ऐसा इंकलाब आएगा जिसे कोई रोक नहीं सकेगा।

हमें एक और बहुत बड़ी और अहम बात समझनी होगी। सियासत में कोई भी क़ौम सिर्फ़ अपने दम पर मुकम्मल कामयाबी हासिल नहीं कर सकती। हिंदुस्तान एक बहुत बड़ा और विविधताओं वाला मुल्क है। यहाँ बहुत से ऐसे तबक़े हैं जो हमारी तरह ही हाशिए पर हैं, जो हमारी तरह ही ग़रीबी, बेरोज़गारी और निज़ामी नाइंसाफ़ी का शिकार हैं। मुल्क के दलित, आदिवासी और पिछड़े वर्ग के लोगों का दर्द भी वही है जो हमारा दर्द है। सियासी शऊर का तक्राज़ा यह है कि हम खुद को समाज से अलग-थलग न रखें, बल्कि इन मज़लूम तबक़ों के साथ मिलकर एक मज़बूत इत्तेहाद बनाएं।

जब हम सिर्फ़ अपने मज़हबी मसाइल पर आवाज़ उठाते हैं, तो हम अकेले पड़ जाते हैं। लेकिन जब हम मुल्क की ग़रीबी, बेरोज़गारी, महंगाई और शिक्षा के मसलों पर आवाज़ उठाएंगे, तो मुल्क का हर ग़रीब और हर मज़लूम इंसान हमारे साथ खड़ा नज़र आएगा। हमारी लड़ाई किसी मज़हब या किसी ख़ासा अक़ीदे के लोगों से नहीं है, हमारी लड़ाई उस ज़ालिम निज़ाम और उस सोच से है जो ग़रीब को ग़रीब और पिछड़े को पिछड़ा रखना चाहती है। जब हम दूसरों के दर्द में शरीक होना सीखेंगे, तभी दूसरे लोग हमारे दर्द को अपना दर्द समझेंगे। यही हक़ीक़ी सियासी बसीरत है। उंड लेवल पर तब्दीली लाने का एक और बेहतरीन तरीक़ा यह है कि हम अपने नौजवानों को एडमिनिस्ट्रेशन और अफ़सरशाही की तरफ़ राग़िब करें। सियासतदान सिर्फ़ नीतियां बनाते हैं, लेकिन उन नीतियों को लागू करने का काम मुल्क के अफ़सर यानी नौकरशाही करती है।

जब तक हमारे नौजवान सिविल सर्विसेज़, पीसीएस, पुलिस और ज्युडिशियरी में नहीं जाएंगे, तब तक हमारा कोई भी मंसूबा मुकम्मल नहीं हो सकता। हमें अपने होनहार बच्चों को सिर्फ़ डॉक्टर या इंजीनियर बनाने तक महदूद नहीं रखना चाहिए। हमें हर बस्ती से चंदा इकट्ठा करके अपने ज़हीन बच्चों को आईएएस और आईपीएस की तैयारी के लिए भेजना चाहिए। जब निज़ाम की कुर्सियों पर हमारे अपने लोग बैठे होंगे, जो क़ौम का दर्द समझते हों, तो हमें किसी भी सियासी रहनुमा के आगे हाथ फैलाने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी।

हमें यह भी समझना होगा कि हुकूम की लड़ाई एक दिन या एक साल की लड़ाई नहीं होती। यह एक मुसलसल जद्दोज़हद है, जिसमें सब्र और इस्तक्रामत की ज़रूरत होती है। कई बार ऐसा होगा कि आपको नाकामी मिलेगी, कई बार ऐसा होगा कि आपके अपने ही लोग आपका साथ छोड़ देंगे, लेकिन अगर आपका मक़सद साफ़ है और आपकी नीयत सच्ची है, तो आपको मायूस नहीं होना है।

एक आम पढ़े-लिखे इंसान की हैसियत से, मैं आज यह बात पूरे यक़ीन और भरोसे के साथ कह सकता हूँ कि हमारी क़ौम के अंदर सलाहियतों की कोई कमी नहीं है। हमारे पास वो जज़्बा है जिसने तारीख़ का रुख़ मोड़ा है। हमें सिर्फ़ अपनी उस ताक़त को समेटने की ज़रूरत है जो टुकड़ों में बिखरी हुई है। हमें अपनी गुस्से और अपनी मायूसी को एक मुसबत और तामीरी ताक़त में तब्दील करना है।

ज़रा अपने माज़ी से नज़र हटाकर मुस्तक्रबिल की तरफ़ देखिए। क्या आप चाहते हैं कि आने वाले पचास सालों के बाद भी हमारी नस्लें इसी तरह ग़रीबी और ख़ौफ़ का रोना रोएं? क्या आप चाहते हैं कि हमारे बच्चों को भी अपने ही मुल्क में अपनी वफ़ादारी का सुबूत देना पड़े? अगर आपका जवाब नहीं है, तो आज से ही अपनी सोच का रुख़ बदल दीजिए। जब भी आप किसी मजलिस में बैठें, तो किसी की ग़ीबत करने या सियासी अफ़वाहों पर वक़््त बर्बाद करने के बजाय, इस बात पर ग़ौर करें कि आपके मुहल्ले में कितने बच्चे स्कूल नहीं जाते। इस बात पर बात करें कि किस तरह मिलकर किसी ग़रीब के लिए रोज़गार का इंतज़ाम किया जाए। क़ौमी इत्तेहाद कोई आस्मान से उतरने वाली चीज़ नहीं है।

यह दो दिलों के जुड़ने का नाम है। जब आप अपने पड़ोसी का दर्द समझने लगेंगे, जब एक मसलक का इंसान दूसरे मसलक के इंसान की इज़्जत करने लगेगा, तो इत्तेहाद खुद-ब-खुद पैदा हो जाएगा।

मुस्तक्रबिल का जो खाका हमने इस किताब में खींचा है, वह कोई खयाली दुनिया नहीं है। यह मुमकिन है। अगर हम अपनी तालीम के मेयार को बुलंद कर लें, अगर हम हुनरमंदी और नई तकनीक को अपनी ज़िंदगी का हिस्सा बना लें, अगर हम अपनी औरतों को माशी और तालीमी आज़ादी दें, और सबसे बढ़कर, अगर हम अपने सियासी शऊर को बेदार करके एक मुतहिद क्रौम बन जाएं, तो दुनिया की कोई भी ताक़त हमें तरक्क़ी करने से नहीं रोक सकती।

हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि यह मुल्क हमारा भी उतना ही है जितना किसी और का। हमने इसकी आज़ादी के लिए अपना खून दिया है, हमने इसकी तरक्क़ी में अपना पसीना बहाया है। हमें अपने हुकूक़ मांगने के लिए न तो किसी से डरने की ज़रूरत है और न ही किसी के सामने झुकने की। हमारा हक़ आईन में दर्ज़ है, और उस हक़ को हासिल करने के लिए हमें सिर्फ़ तालीम, क़लम और इत्तेहाद की ज़रूरत है।

यह रास्ता यक़ीनन दुश्वारियों से भरा है, लेकिन यह रास्ता मंज़िल तक ज़रूर जाता है। आइए, एक ऐसे मुस्तक्रबिल की तरफ़ क़दम बढ़ाएं जहाँ हमारी पहचान ग़रीबी, पसमंदगी और ख़ौफ़ से न हो, बल्कि इल्म, हुनरमंदी, आज़ादी और सियासी ताक़त से हो। जहाँ हमारे नौजवानों के चेहरे पर मायूसी न हो, बल्कि एक फ़ख़्र और एक रौशन उम्मीद हो। यही वह नई सुबह है जिसकी हमें तलाश है, और यह सुबह हम अपने हाथों से, अपनी मेहनत से और अपने इत्तेहाद से ही ला सकते हैं।

किताब के आखिरी हिस्से की यह गुफ़्तगू सिर्फ़ एक खयाली जज़्बा नहीं, बल्कि एक अवामी मंसूबा है। अब वक़्त आ गया है कि इस किताब के तमाम बाजों को समेटते हुए, हम 'हर्फ़-ए-आखिर' यानी अपने आखिरी पैग़ाम की तरफ़ बढ़ें, जहाँ हम एक नई सुबह की उम्मीद और अपनी हक़ीक़ी ज़िम्मेदारियों को एक मुकम्मल शक़्ल देंगे।

“ हर्फ़-ए-आखिर: एक नई सुबह की उम्मीद और हमारी ज़िम्मेदारी (आखिरी पैग़ाम) ”

इस किताब के आखिरी पन्नों तक आते-आते, मेरे और आपके, दोनों के दिलों पर एक अजीब सा बोझ तारी हो चुका होगा। हमने माज़ी के उन सुनहरे पन्नों से अपना सफ़र शुरू किया था जहाँ हमारी क़ौम उरूज़ पर थी, और फिर हमने वो दर्दनाक मंज़र देखे जहाँ हमारी रियासतें, हमारे कारोबार और हमारी इज़्ज़त नीलाम हो गई। हमने आज़ादी के बाद के वो सरकारी दस्तावेज़ और रिपोर्टें भी खंगालीं, जिनके एक-एक लफ़्ज़ से मुफ़लिसी, ख़ौफ़ और पसमांदगी की बू आती है। यह सिर्फ़ स्याही से लिखे हुए अलफ़ाज़ नहीं थे; यह दरअसल उन हज़ारों बापों के आँसू थे जो अपने बच्चों की फ़ीस नहीं भर पाए, यह उन नौजवानों की सिसकियाँ थीं जिनके ख़्वाबों का गला घोट दिया गया, और यह उन माओं की आहें थीं जिनके बेटे बिना किसी जुर्म के सालों से सलाखों के पीछे हैं।

लेकिन क्या इस किताब को लिखने का मक़सद सिर्फ़ छाती पीटना या अपने ज़ख्मों को सहला कर रोना था? हरगिज़ नहीं। अगर हम सिर्फ़ अपने माज़ी का मातम करते रहे और निज़ाम को गालियाँ देते रहे, तो हम कभी उस अंधी ग़ार से बाहर नहीं आ पाएंगे जिसमें हम गिर चुके हैं। हकीक़त का सामना करना, अपनी बर्बादी को खुली आँखों से देखना, दरअसल इलाज की सबसे पहली सीढ़ी है। हमने इस किताब में अपना चेहरा उस साफ़ आईने में देख लिया है जिसमें कोई झूठ नहीं है। अब सवाल यह पैदा होता है कि यहाँ से आगे क्या?

एक आम इंसान की ज़िंदगी को क़रीब से देखिए। वो इंसान जो सुबह अंधेरे में उठकर अपनी साइकिल या रिक्शा लेकर निकलता है, और रात को जब घर लौटता है तो उसके बदन की हर हड्डी दर्द से चीख रही होती है। वो इंसान यह किताब नहीं पढ़ सकता, वो सच्चर कमेटी की रिपोर्ट नहीं समझता, उसे सिर्फ़ इतना पता है कि अगर वो कल काम पर नहीं गया तो उसके घर का चूल्हा नहीं जलेगा। हमारी सबसे बड़ी ज़िम्मेदारी उस इंसान की तरफ़ है। हम जो पढ़े-लिखे लोग हैं, जिन्हें अल्लाह ने शऊर दिया है, दो वक़्त की अच्छी रोटी दी है, यह हमारा फ़र्ज़ बनता है कि हम उस रिक्शे वाले, उस पंचर बनाने वाले और उस बुनकर के बच्चों को उस ग़रीबी के दलदल से बाहर निकालें।

कोई भी मसीहा आस्मान से उतर कर हमारे हालात बदलने नहीं आएगा। न कोई सियासतदान हमारी बस्तियों में स्कूल बनाने आएगा, और न ही कोई सरकारी अफसर हमारे दरवाज़े पर आकर हमें नौकरी देगा। अल्लाह की किताब भी यही गवाही देती है कि वो उस क़ौम की हालत कभी नहीं बदलता, जिसे खुद अपनी हालत बदलने का ख़याल न हो। हमारी बर्बादी की एक बहुत बड़ी वजह यह भी रही है कि हमने अपनी तक्रदीर का फ़ैसला दूसरों के हाथों में छोड़ दिया था। अब वक़्त आ गया है कि हम अपनी तक्रदीर की क़लम खुद अपने हाथों में थाम लें।

हमें अपनी तरजीहात यानी अपनी प्राथमिकताओं को मुकम्मल तौर पर बदलना होगा। जिस क़ौम के पास आला तालीम के लिए पैसे न हों, उस क़ौम को शादियों में लाखों रुपये लुटाने का, बिरयानी की देगों पर दिखावा करने का और झूठी शान-ओ-शौकत में जीने का कोई हक़ नहीं है। हमें अपनी बस्तियों का मिज़ाज बदलना होगा। जहाँ हम शानदार मस्जिदें बनाते हैं, वहीं हमें उन मस्जिदों से जुड़े हुए शानदार स्कूल, लाइब्रेरी और ख़िदमत सेंटर भी बनाने होंगे। अगर हम अपनी ज़कात और ख़ैरात का सही और मंसूबा-बंद इस्तेमाल करें, तो हमारी बस्ती का कोई भी यतीम या ग़रीब बच्चा पैसे की कमी की वजह से तालीम से महरूम नहीं रहेगा।

एक नई सुबह की उम्मीद सिर्फ़ कोई ख़याली तसव्वुर नहीं है, यह एक हक़ीक़त बन सकती है। ज़रा आँखें बंद करके उस दिन का तसव्वुर कीजिए जब हमारी बस्तियों से बेरोज़गार नौजवानों की भीड़ ख़त्म हो जाएगी। जब हमारा हर नौजवान किसी नई तकनीक, कंप्यूटर, या जदीद हुनर में माहिर होगा। जब हमारी बेटियां आला तालीम हासिल करके किसी बड़े अस्पताल में लोगों की जान बचा रही होंगी या अपना कोई आज़ाद कारोबार चला रही होंगी। जब मुल्क के बड़े दफ़्तरों में, पुलिस में और अदालतों में हमारे अपने नौजवान इंसाफ़ की कुर्सियों पर बैठे होंगे। उस दिन कोई भी हमें शक की निगाह से नहीं देख सकेगा, कोई हमें दूसरे दर्जे का शहरी नहीं कह सकेगा। इल्म और माशी ताक़त वो हथियार हैं जो हर ख़ौफ़ की जंजीर को काट देते हैं।

यह किताब एक आखिरी पैग़ाम है हर उस नौजवान के नाम जो अपनी ज़िंदगी से मायूस हो चुका है, हर उस बाप के नाम जो अपनी ग़रीबी से हार मान चुका है, और हर उस रहनुमा के नाम जो अवाम की रहनुमाई का दावा करता है। उठिए, और अपनी हक़ीक़त को बदलिए। अपने बच्चों के हाथों से गुलामी और मज़दूरी के औज़ार छीन कर उन्हें क़लम और कंप्यूटर पकड़ा दीजिए। अपने अंदर के इख़तेलाफ़ात को दफ़न कर दीजिए, क्योंकि जब क़ौम डूबती है तो वो किसी का मसलक या बिरादरी नहीं पूछती।

रास्ता मुश्किल ज़रूर है, रात बहुत तारीक़ है, लेकिन याद रखिए कि सुबह की सबसे साफ़ रौशनी उसी वक़्त फूटती है जब रात का अंधेरा अपनी इंतिहा को पहुँच चुका होता है। हमारा ज़वाल अपनी इंतिहा को पहुँच चुका है, अब यहाँ से सिर्फ़ उरूज़ का रास्त बाक़ी है। नीयत साफ़ रखिए, मेहनत को अपना ईमान बनाइए, और अल्लाह की ज़ात पर मुकम्मल भरोसा रखिए। यह आज़ाद हिंदुस्तान हमारा भी है, और इस मुल्क की तरक्की के नक्शे पर हमें अपनी और अपनी क़ौम की एक ऐसी शानदार जगह बनानी है, जिसे आने वाली नस्लें फ़ख़्र के साथ याद रखें।

यहीं से एक नए सफ़र का आगाज़ होता है। ख़्वाब हमने देख लिया है, हक़ीक़त को हमने समझ लिया है, अब सिर्फ़ क़दम बढ़ाना बाक़ी है। आइए, मिलकर इस नई सुबह का इस्तक्रबाल करें।

पाठकों के लिए सूचना: आपत्ति एवं सुधार

इस पुस्तक, **एक नई सुबह की तलाश: हिंदुस्तानी मुसलमान – कल, आज और मुस्तक़बिल**, का उद्देश्य सामाजिक विषयों पर विचार और संवाद प्रस्तुत करना है। किसी व्यक्ति, संस्था या समुदाय की प्रतिष्ठा को अनुचित रूप से ठेस पहुँचाना लेखक एवं प्रकाशक का उद्देश्य नहीं है।

यदि किसी पाठक, व्यक्ति या संस्था को पुस्तक के किसी कथन, तथ्य, उद्धरण अथवा उल्लेख पर आपत्ति हो, तो उनसे निवेदन है कि संबंधित पृष्ठ संख्या, आपत्ति का स्पष्ट विवरण और उपलब्ध प्रमाण सहित लेखक या प्रकाशक को लिखित रूप में सूचित करें। प्रत्येक शिकायत पर गंभीरता और निष्पक्षता से विचार किया जाएगा। जाँच में कोई तथ्यात्मक त्रुटि अथवा अनुचित उल्लेख प्रमाणित होने पर आवश्यकतानुसार स्पष्टीकरण, संशोधन या संबंधित अंश हटाने की कार्रवाई की जाएगी। ऐसे सुधार आगामी संस्करण तथा उपलब्ध डिजिटल संस्करण में यथासंभव शामिल किए जाएँगे।

लेखक एवं प्रकाशक की अपेक्षा है कि किसी न्यायिक कार्रवाई से पहले संवाद और सुधार के माध्यम से विषय के समाधान का अवसर दिया जाए। यह अनुरोध किसी व्यक्ति के वैधानिक अधिकार, कानूनी समय-सीमा अथवा तत्काल न्यायिक राहत पाने के अधिकार को सीमित नहीं करता।

नोट: लागू कानून द्वारा अनुमत सीमा तक, इस पुस्तक से संबंधित किसी भी कानूनी विवाद का निपटारा केवल **देवबंद, जिला सहारनपुर, उत्तर प्रदेश** के सक्षम न्यायालय में होगा।

लेखक: **डॉ. सैयद नासिर शाह**

प्रकाशक: **Qalamse.com**

आपत्ति एवं सुधार हेतु ईमेल:

Redox55@gmail.com



मुसन्निफ़ के बारे में..

डॉ. सैयद नासिर शाह कोई सियासतदान, नामवर पत्रकार या रिवायती अदीब (लेखक) नहीं हैं। वह इस मुल्क के करोड़ों आम, ज़मीन से जुड़े और तालीम-याफ़्ता हिंदुस्तानियों की उस भीड़ का एक खामोश चेहरा हैं, जो रोज़ाना अपनी आंखों के सामने अपने समाज और उसकी तहज़ीब को बदलते हुए देख रहे हैं।

सियासत और मीडिया के शोरगुल से दूर, डॉ. सैयद नासिर शाह एक ऐसे संवेदनशील इंसान हैं जो मुल्क के दुख-दर्द और समाज की बदलती हुई नपसियात को बहुत गहराई से महसूस करते हैं। उनका ताल्लुक एक ऐसे सादे परिवार से है जहाँ तालीम, इंसानियत और मुल्क की गंगा-जमुनी तहज़ीब को सबसे बड़ा सरमाया माना जाता है। यह किताब किसी बंद कमरे या लाइब्रेरी में बैठकर नहीं लिखी गई है। यह उन तजुर्बत, उस बेबसी और उस ज़हनी घुटन का सच्चा निचोड़ है जिसका सामना आज एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान सड़कों पर, ट्रेनों में और अपने रोज़मर्रा के सफर में कर रहा है।

उनका यह पुख्ता यकीन है कि नफरत का जवाब कभी भी नफरत या जज़्बात से नहीं दिया जा सकता, बल्कि इसका मुकाबला सिर्फ और सिर्फ तालीम, दलील और हिकमत से ही मुमकिन है। अपनी इस किताब के ज़रिए उन्होंने मुल्क के उस खामोश तबके को एक बेबाक आवाज़ देने की कोशिश की है, जिनकी हकीकत को टीवी की स्क्रीन और सोशल मीडिया के झूठे शोर ने बहुत गहरे दफन कर दिया है। डॉ. सैयद नासिर शाह की यह कोशिश महज़ कुछ लफ़्ज़ों या पन्नों का सफर नहीं है, बल्कि यह एक आम इंसान की अपनी पहचान, अपने वजूद और अपने मुल्क से बेपनाह मोहब्बत की एक मुकम्मल और सच्ची दास्तान है।